Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषदों में योग-विद्या

२०.२
२१०:५

डॉ. रघुवीर वेदालंकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

२०.२
२९०.५
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
विषय संख्या ______ आगत नं० 138299
लेखक रघुवीर
शीर्षक उपनिषदों में योग-विद्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३४२११

प्रस्तुत पुस्तक लेखक द्वारा विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग द्वारा १९८४ में स्वीकृत लघु परि-योजना (miner project) के रूप में किया गया शोध कार्य है। उपनिषदों का अध्ययन-अध्यापन करते समय यह तथ्य प्रकाश में आया कि अनेक उपनिषदों में योग की प्रक्रिया विद्यमान है। श्वेताश्वरोपनिषद् में तो ध्यान करने की विधि भी बतलाई गई है। इसी प्रकार कठोपनिषद् आदि में भी ध्यानयोग आदि शब्द विद्यमान हैं जो कि उपनिषदों का सम्बन्ध योग दर्शन से जोड़ते हैं। पातञ्जल योगदर्शन ध्यानयोग का ही ग्रंथ है। इसी विचार से इसमें मुख्य-मुख्य उपनिषदों को चुनकर पातञ्जल योगदर्शन के साथ तुलना करके यह प्रतिपादन करने की चेष्टा की गई है कि उपनिषदों में एक सुसम्बद्ध यौगिक प्रक्रिया विद्यमान है।

केवल तुलना मात्र ही इस ग्रंथ का उद्देश्य नहीं रहा है अपितु योग दर्शन के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से भी इसमें विचार किया गया है। यथा—डा० सम्पूर्णानन्द आदि ने योग दर्शन के विषय में कई शंकाएं अथवा आक्षेप भी किए हैं, उन पर भी इस पुस्तक में विचार किया गया है। योगदर्शन के व्या-ख्याकारों तथा अध्येताओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से योगदर्शन पर विचार किया है। उनके सभी विचार उपादेय हैं किन्तु अनेक स्थलों पर उनसे असहमति दिखलाते हुए इस पुस्तक में प्रतिपादन किया गया है कि पतञ्जलि ने अधिकारी भेद से पृथक्-पृथक् योगांगों का विधान नहीं किया अपितु सभी के लिए समान रूप में अष्टांग योग का विधान किया है। यह अपनी-अपनी स्थिति पर निर्भर करता है कि किस साधक को किस योगांग के अनुष्ठान की कितनी आवश्यकता है अथवा उसकी योगांगों में कितनी गति है।

Rs. 150

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०.२

२१० : ५

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या .... आगत संख्या 138299

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०.२
२१०:५

134299

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

138299

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषदों में योग-विद्या

लेखक
डॉ. रघुवीर वेदालंकार, वेदाचार्य
रीडर, रामजस कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

138299

प्राक्कथन
प्रो. सत्यव्रत शास्त्री
भू० पू० कुलपति जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी

138299

के. सी. पब्लिशर्स
दिल्ली :: भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :
के. सी. पब्लिशर्स
४४८, रिंग रोड, आजादपुर, फ्लाई ओवर,
दिल्ली-११००३३
दूरभाष : ७२१७८४१

20·2
290·4

सर्वाधिकार—लेखकाधीन

प्रथम संस्करण : १९९१

मूल्य : रु० १५०-००

मुद्रक :
अमर प्रिंटिंग प्रेस
८/२५ विजय नगर, दिल्ली-९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

UPANISHADON MEN YOGA-VIDYA

Auther

Dr. Raghuvir Vedalankar, Vedacharya

Reader, Ramjas College

University of Delhi

Foreword by

Prof. Satyavarat Shastri

Ex. Vice-Chancellor, Jagannath Sanskrit University, Puri

K. C. PUBLISHERS

DELHI : : INDIA

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Published by :
K. C. PUBLISHERS
448, Azadpur Flyover
DELHI-110033

Phone : 7217841

First edition : 1991

Price : Rs. 150-00

Printed at :
Amar Printing Press
8/25, Vijay Nagar, Delhi-9

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

डॉ० रघुवीर वेदालंकार की नवीनतम कृति 'उपनिषदों में योग-विद्या' का मैंने ध्यानपूर्वक अवलोकन किया। लेखक ने अत्यन्त उत्तम रीति से उपनिषदों में चर्चित योग-विद्या पर प्रकाश डाला है जिससे इनका परिश्रम स्पष्ट देखा जा सकता है। पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है। इससे पूर्व विषय प्रवेश के माध्यम से भी 'विविध ग्रन्थों में योग का उल्लेख' तथा 'योग के प्रकार' नामक शीर्षकों के अन्तर्गत योग के स्रोत तथा प्रकार के विषय में अच्छा परिश्रम किया है। तदनन्तर प्रथम अध्याय में उपनिषदों में वर्णित यम-नियमों पर प्रकाश डालते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि योगाभ्यासी के लिए सदाचारी एवं इन्द्रियजयी होना आवश्यक है। उसका खान-पान भी शुद्ध-सात्विक ही होना चाहिए तथा उसके लिए यम-नियमों का पालन अनिवार्य है।

द्वितीय अध्याय में आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार की विवेचना करते हुए प्राणायाम के प्रकार तथा लाभों की विस्तृत चर्चा की गयी है। प्रत्याहार की विविध परिभाषाएं उद्धृत करते हुए इसे समाधि के लिए आवश्यक बतलाया गया है। 'धारणा, ध्यान, समाधि, आत्मा' नामक तृतीय अध्याय में धारणा का स्वरूप, उसके भेद, विविध ग्रन्थों में ध्यान की विधि आदि पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही समाधि का स्वरूप एवं उसके भेदों की चर्चा भी सुन्दर रूप में करते हुए दिखलाया गया है कि अनेक प्रदर्शनकारी भी समाधि के नाम पर जनता को ठगते हैं जो कि वास्तविक समाधि नहीं होती। समाधि की परिणति चित्तवृत्ति निरोध के रूप में होती है। आत्मा की चर्चा करते हुए लेखक ने सिद्ध किया है कि योगदर्शन तथा उपनिषदों के अनुसार जीवात्मा संख्या में अनन्त, नित्य तथा स्वतंत्र अस्तित्व वाले हैं। वे ब्रह्म का अंश नहीं हैं। उपनिषदों में जीवात्मा को अणु प्रमाण तथा कर्मफल का भोक्ता स्वीकार किया गया है। 'ईश्वर मीमांसा' नामक चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादित किया गया है कि उपनिषदों में चर्चित ब्रह्म ही योगदर्शन का पुरुष विशेष ईश्वर है वह विभु परिणाम वाला है तथा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। ब्रह्मदर्शन के उपायों पर भी यहां पर विस्तार से चर्चा की गयी है। पञ्चम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 'कैवल्य मीमांसा' है। इसमें बतलाया गया है कि कैवल्य कब तथा कैसे प्राप्त होता है। अपवर्ग तथा मोक्ष आदि नाम भी कैवल्य के ही हैं। मुक्ति से पुनरावृत्ति का प्रतिपादन भी इस अध्याय में किया गया है।

षष्ठ अध्याय में परिकर्म तथा अभ्यास वैराग्य की विशद् चर्चा की गयी है। योगदर्शन के अध्येताओं ने परिकर्म, क्रियायोग तथा अभ्यास-वैराग्य को अधिकारी भेद से विभिन्न अभ्यासियों के लिए माना है। डॉ० रघुवीर ने इसके साथ असहमति प्रकट करते हुए सुदृढ़ रूप में प्रतिपादित किया है कि इन उपायों में अधिकारी भेद का प्रश्न नहीं है। सभी साधकों के लिए इन उपायों की अनिवार्यता है। 'क्रियायोग' नामक सप्तम अध्याय में बतलाया गया है कि तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान का विशेष महत्त्व होने के कारण ही पतंजलि ने क्रियायोग के रूप में इनका पुनः उल्लेख किया है। इन तीनों की गणना यम-नियम में ही है। क्रियायोग अलग से कोई उपाय नहीं है।

इस प्रकार पूरे ग्रन्थ को देखने से पता चलता है कि इसमें पर्याप्त परिश्रम किया गया है। लेखक की यह मान्यता है कि योगदर्शन तथा उपनिषदों का लक्ष्य एवं लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया समान ही है। यह मान्यता नवीन होने पर भी सुदृढ़ प्रमाणों पर आधारित है। मैं डॉ० रघुवीर की इस स्वतन्त्र शोध दृष्टि का स्वागत करता हूं। उपनिषदों को आध्यात्मिक ज्ञान की निधि माना जाता रहा है। किन्तु इनमें योग प्रक्रिया भी निहित है, यह तथ्य प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा उभर कर सामने आया है।

प्रस्तुत पुस्तक योग जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों दोनों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। डा० रघुवीर की स्वयं भी इस विषय में रुचि तथा गति है। उसकी ही परिणति इस ग्रन्थ के रूप में हुयी है। योग विषयक प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए लेखक साधुवाद के पात्र है।

१५ मार्च १९९१

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्षेप सूची एवं सहायक ग्रन्थ सूची

ऋग्०	ऋग्वेद
यजु०	यजुर्वेद
यो० द०	योगदर्शन, डा० सम्पूर्णानन्द
यो० द०	योगदर्शन, व्यास भाष्य तथा भोजवृत्ति सहित, पं० रुद्रदत्त शर्मा
यो० द०	तत्त्ववैशारदी तथा व्यास भाष्य सहित, डा० रामशंकर भट्टाचार्य
यो० वा०	योगवार्त्तिक, विज्ञान भिक्षु
पा०तं यो० द०	पातञ्जल योग दर्शन, स्वामी ओमानन्द
ध्या० यो० प्र०	ध्यान योग प्रकाश, स्वामी लक्ष्मणानन्द
सां० यो० जी०	सांख्य योग का जीर्णोद्धार
पात० अध्य०	पातञ्जल योगदर्शन एक अध्ययन, डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी
सां० द०	सांख्य दर्शन
यो० सा० सं०	योगसार संग्रह
महा०	महाभारत
गीता	भगवद्गीता
वि० पु०	विष्णु पुराण
अद्० रामा०	अद्भुत रामायण
दत्ता० यो०	दत्तात्रेय योगशास्त्र
ईशो०	ईशोपनिषद्
केनो०	केनोपनिषद्
कठो०	कठोपनिषद्
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषद्
मुण्डको०	मुण्डकोपनिषद्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माण्डूक्यो०	माण्डूक्योपनिषद्
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्
श्वेता०	श्वेताश्वरोपनिषद्
कैवल्यो०	कैवल्योपनिषद्
ऐत०	ऐतरेयोपनिषद्
तैत्ति०	तैत्तिरीयोपनिषद्
शाण्डिल्य०	शाण्डिल्योपनिषद्
मुक्तिको०	मुक्तिकोपनिषद्
योग तत्त्व०	योगतत्त्वोपनिषद्
ध्यान०	ध्यान बिन्दु उपनिषद्
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
महा०	महानारायणोपनिषद्
योग शिख०	योगशिखोपनिषद्
योगराज०	योगराजोपनिषद्
तेजो०	तेजोबिन्दु उपनिषद्
त्रिशिख	त्रिशिखोपनिषद्
जावाल०	जावालदर्शनोपनिषद्
योगचूड़ा०	योगचूड़ामणि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय सूची

प्राक्कथन v

संक्षेप सूची एवं सहायक ग्रन्थ सूची vii

विषय प्रवेश १-२६

योगदर्शन तथा उपनिषद् २, सम्बन्ध चतुष्टय ७, विविध ग्रन्थों में योग का उल्लेख ६, उपनिषदों में योग १२, योग के अंग १३, योग के प्रकार १४, अन्य प्रकार के योग १७, ध्यान योग १८, सांख्य योग १६, कर्मयोग २०

प्रथम अध्याय

उपनिषदों में यम-नियमों का वर्णन २७-५१

यम-नियम २७, **यमों का वर्णन**—अहिंसा ३५, सत्य ३८, ब्रह्मचर्य ४०, अपरिग्रह ४१, **नियमों का वर्णन**—शौच ४३, सन्तोष ४४, तप ४४, स्वाध्याय ४६, ईश्वर प्रणिधान ४६, यम-नियमों के प्रयोजन ४८, योग दर्शन में नियमों के लाभ ४६, चित्तमलक्षालन तथा समाधि सिद्धि ५०

द्वितीय अध्याय

आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार ५२-६४

आसन ५२, प्राणायाम ५३, प्राणायाम की विधि एवं लाभ ५८, प्राणायाम के भेद तथा संख्या ६१, प्रत्याहार ६२

तृतीय अध्याय

धारणा, ध्यान, समाधि, आत्मा ६५-८३

धारणा ६५, ध्यान ६७, **समाधि** समाधि के भेद ७०, अपर वैराग्य के भेद ७२, निर्बीज समाधि की प्राप्ति का क्रम ७७, आत्मा ७६, पुरुष अनेकता ८१, आत्मा का परिणाम ८३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

ईश्वर मीमांसा ८४-१००

ईश्वर ८४, ओम् का जप ८८, **ब्रह्मदर्शन के प्रकार**—अध्यात्म योग ९०, श्रद्धा, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि ९१, मनीषा ९४, ईश्वर कृपा ९५, अविद्या ग्रन्थि का नाश ९८

पंचम अध्याय

कैवल्यमीमांसा १०१-१०९

कैवल्य का स्वरूप १०१, कैवल्य कब होता है १०१, क्लेशकर्म निवृत्ति १०२, उपनिषदों में मुक्ति १०३, मुक्ति की अवधि १०५, दो प्रकार की मुक्ति १०९

षष्ठ अध्याय

परिकर्म, अभ्यास, वैराग्य ११०-१२३

परिकर्म ११०, अभ्यास ११७, वैराग्य ११८

सप्तम अध्याय

क्रियायोग १२४-१३५

तप १२७, ईश्वर प्रणिधान १२८,

उपसंहार १३६-१३९

सूत्रानुक्रमणी १४१-१४२

श्लोकानुक्रमणी १४३-१४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषदों में योग-विद्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-प्रवेश

योग का प्रारम्भ कब से तथा कैसे हुआ, यह एक अलग प्रश्न है, आजकल पातञ्जल योगदर्शन ही हमारे सामने सुप्रतिष्ठित है। भारतीय आस्तिक षड्-दर्शनों में पतञ्जलि प्रणीत योग सूत्रों का महत्त्व सभी योगजिज्ञासु स्वीकार कर चुके हैं। इन थोड़े से सूत्रों पर अनेक प्रकार के भाष्य एवं टीकाएं लिखने से इन सूत्रों का महत्त्व सुतरां सिद्ध है। अधिकांश योग साधक पतञ्जलि प्रणीत इन ही योग सूत्रों एवं इन पर लिखे गये व्यास भाष्य आदि का ही आश्रय अपनी साधना पद्धति में लेते हैं। योग दर्शन पर अब तक पर्याप्त लिखा जा चुका है। पुनरपि इस विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता इसलिए हुयी क्योंकि—योग दर्शन के विचारकों के दो भेद हैं। अधिकांश विचारक योग सूत्रों में वर्णित तथ्यों को सर्वांश में स्वीकार करते हैं यह अलग बात है कि सिद्धियों के प्रसङ्ग में कुछ विद्वान् उनकी व्याख्या अध्यात्मपरक करते हैं जबकि अनेक विद्वान् यह भी मानते हैं कि बाह्य भौतिक जगत् के संसर्ग से ये सिद्धियां ठीक उसी प्रकार प्राप्त हो सकती हैं जैसे कि योगदर्शन में वर्णित हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो कि योगसूत्रों के साथ असहमति प्रकट करते हुए उनकी सत्यता में सन्देह करते हैं विशेषकर सिद्धियों के सन्दर्भ में। यह सन्देह भी दो प्रकार से है। प्रथम यह कि योगसूत्रों में प्रक्षेप कर दिया गया तथा दूसरे यह कि योगसूत्रों का कर्त्ता कोई अभ्यासी पुरुष न था अपितु उसने सुन-सुनाकर ही योगमार्ग तथा सिद्धियों आदि का वर्णन कर दिया। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।[1]

क्या वस्तुतः ऐसी ही बात है! यदि ऐसा है तो योगसूत्रों एवं उनमें वर्णित साधना पद्धति पर क्या विश्वास किया जाए? वस्तुतः सन्देह का कारण हमारी अपनी अयोग्यता अथवा अनभ्यास होता है। स्थालीपुलाक न्याय से कुछ योगसूत्रों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष परिणाम देखने से उन सूत्रों के

---

१. सम्पूर्णानन्द, योगदर्शन, जन० १९७४, पृ० १५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में भी सन्देह का कोई स्थान नहीं रह जाता जो कि हमारी समझ से परे है। इस विषय में हरिशंकर जोशी कहते हैं 'योग या सांख्य, खण्डन मण्डन का दर्शन नहीं है। यह है अनुभूति का, ज्ञान का, परमगति का साक्षात्कारी दर्शन, सचमुच दर्शन दिलाने वाला दर्शन जिसके सामने अन्य सब दर्शन मूलतः और फलतः अदर्शन ही हैं।[1]

योगदर्शन तथा उपनिषद

योगदर्शन में योग की एक परिमार्जित एवं क्रमिक पद्धति उपलब्ध होती है साथ ही यह भी अवधेय है कि योग सूत्रों में योग की कई पद्धतियों का उल्लेख किया गया है। योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टाङ्गयोग उपनिषदों में समग्ररूप में प्राप्त हो जाता है यह बात अलग है कि उपनिषदों में इस प्रकार क्रमिक एवं सुसम्बद्ध योगप्रक्रिया उपलब्ध नहीं है जैसी कि योगसूत्रों में। योगदर्शन का लक्ष्य है —चित्त वृत्ति के निरोध द्वारा द्रष्टा की स्वरूप स्थिति। यह आत्म दर्शन की, समाधि की स्थिति है। उपनिषदों का लक्ष्य भी आत्मदर्शन है[2] भले ही आत्मा शब्द से जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही अभिप्रेत हों। समाधि की स्थिति में आत्मदर्शन एवं परमात्मदर्शन दोनों ही साधक को होते हैं। उपनिषदों ने आत्मदर्शन कराने के लिए ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया है जब कि योगदर्शनकार योग की एक सुसम्बद्ध प्रणाली के द्वारा इस कार्य को पूर्ण करते हैं। याज्ञवल्क्य तो यही कहते हैं कि योग के द्वारा आत्मदर्शन करना ही परम धर्म है।[3] ध्यान से देखा जाए तो उपनिषदों के ज्ञानमार्ग में प्रतिपादित तत्त्व वही हैं जो कि योग सूत्रों में वर्णित हैं। ईशोपनिषद् में सत्य को ढक देने वाले हिरण्यममय आवरण को दूर करके सत्य को देखने की बात कही गई है[4] यह वही अविद्या का आवरण है जिससे आत्मा ढका हुआ है। योगदर्शन में अविद्या पञ्चक्लेशों में सर्वप्रथम परिगणित है जिसको दूर करना योग दर्शन का लक्ष्य है। यदि कदाचित् ईशोपनिषद् के उक्त मन्त्र को वेदमन्त्र कह कर इसके औपनिषत्व को हम कुछ कम करना चाहें तो केनोपनिषद् का वह

---

१. सांख्य योग का जीर्णोद्धार, वाराणसी, १९६५, पृ. १४३

२. आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य बृहदा
एष आत्मा दृष्टव्यः श्रोतव्यः···(छान्दो)

३. अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् (याज्ञ. स्मृ० १.८)

४. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिद्रितं मुखम् (ईशो०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवाद ध्यातव्य है जहां कि यक्ष को इन्द्र ने उमा की सहायता से देखा। यहां पर यक्ष, इन्द्र एवं उमा क्रमशः ब्रह्म, आत्मा तथा बुद्धि के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं ऐसा सभी व्याख्याकार मानते हैं। इतना ही नहीं, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, मैत्रायणी, कौशीतकी तथा श्वेताश्वर उपनिषदों में तो विषय का प्रारम्भ ही 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' वाक्य से किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में तो ब्रह्मविवेचन के साथ-साथ ब्रह्मवेधन का साक्षात् चित्र उपस्थित करते हुए ब्रह्मविद्या को सभी विद्याओं में श्रेष्ठ कहा गया है।[1]

यद्यपि उपनिषद् अत्यधिक अर्वाचीन काल तक भी लिखी गई हैं तथापि मुख्य उपनिषदों को कालक्रम की दृष्टि से चार भागों में बांटा जा सकता है—

प्रथम युग

इसमें छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ऐतरेय तैत्तिरीय तथा कौषीतकी उपनिषद् आते हैं।

दूसरा युग

ईश, केन, कठ, श्वेताश्वर, मुण्डक, गर्भ तथा महानारायण उपनिषद् इस काल में आते हैं।

तृतीय युग

इसके अन्तर्गत प्रश्न, मैत्रायणी तथा माण्डूक्य उपनिषद् हैं।

चतुर्थ युग

समस्त आथर्वण उपनिषद् इस काल की रचना है। कालविभाग के अनुसार जिन उपनिषदों को तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी में रखा गया है उनमें योग की ओर भी अधिक सामग्री प्राप्त होती है।[2] यथा अव्ययतारक उपनिषद् में तारक योग। तैत्तिरीय ब्राह्मण उपनिषद् में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् में अमनस्क योग तथा योगराज उपनिषद् में मन्त्र-योग, जपयोग, हठयोग तथा राजयोग।

इसी प्रकार समस्त उपनिषदों में मुख्य मानी जाने वाली ईशादि एकादश उपनिषद् तथा श्वेताश्वर उपनिषद् में विस्तार से योग प्रक्रिया उपलब्ध होती है। इनमें स्पष्ट रूप में आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान समाधि आदि अंगों के नाम तथा विधि उपलब्ध होती है। यमनियम के अंगभूत शौच, सन्तोष,

---

१. ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् (मुण्डको० १.१)

२. सांख्ययोग का जीर्णोद्धार, पृ० १४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसा, अस्त्येय आदि का वर्णन भी विस्तार से प्राप्त होता है। सत्य एवं ब्रह्मचर्य का प्रतिपादन तो उपनिषद् पदे पदे करती हैं। इसी प्रकार अध्यात्म, ध्यानयोग, पद आदि भी उपनिपदों में बहुधा प्रयुक्त हुए हैं। एक श्लोक जिसमें अपने शरीर को अधर अरणि तथा प्रणव को उत्तम अरणि बनाकर ध्यान के निर्मथन द्वारा आत्मसाक्षात्कार की बात कही गई है; श्वेताश्वर, कैवल्य तथा बृहदारण्यक आदि कई उपनिषदों में प्राप्त होता है।[1] इसी आधार पर जैकोवी का विचार है कि योग का आविर्भाव बृहदारण्यक युग में पूर्वोक्त मन्त्रानुसार हो चुका था। इस प्रकार उपनिषदों में योगविषयक ऐसे तत्त्व विस्तृत रूप में बिखरे पड़े हैं जिनका वर्णन योगसूत्रों में किया गया है। इन तत्त्वों को योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखना भी प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य है। इस गवेषणा में सभी उपनिषदों को आधार न बनाकर मुख्य रूप से ईशादि ग्यारह उपनिषदों का ही आश्रय लिया गया है। थोड़े से स्थानों पर महत्त्वपूर्ण होने के कारण प्रसङ्गवश अन्य उपनिषदों से भी अपने कथन की पुष्टि की गई है।

समालोचनात्मक दृष्टि में भी योगदर्शन का अध्ययन अभी भी श्रम की अपेक्षा रखता है। विभिन्न विद्वानों ने योग दर्शन में कहे गये अष्टाङ्ग योग, क्रियायोग तथा अभ्यास वैराग्य को पृथक्-पृथक् माना है। योग सूत्रों में तीन स्थानों पर ईश्वर प्रविधान पद का प्रयोग किया गया है। नियमों के अन्तर्गत (यो. सू. १.२३) समाधि के सहायक के रूप में (यो. सू. २.१) तथा क्रिया योग (यो. सू. २.३२) के अन्तर्गत। ये सभी प्रणिधान पृथक् पृथक् हैं अथवा एक ही हैं, इस विषय में विद्वानों में विमति है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का यह विचार भी है कि पतञ्जलि ने अपने से पहले उपलब्ध योग की विविध विद्याओं का उल्लेख मात्र किया है।[2] इस प्रकार चित्त की एकाग्रता के वहां पर आठ साधन बतलाये गये हैं। पतञ्जलि ने किसी में भी अपनी रुचि प्रदर्शित नहीं की है। इस प्रकार की अन्य समस्याओं पर योगदर्शन का समालोचनात्मक अध्ययन अपेक्षित था। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में एक प्रयास है।

अपने प्रथम सूत्र 'अथ योगानुशासनम्' के पश्चात् दूसरे सूत्र में ही पतञ्जलि योग की परिभाषा उपस्थित कर देते हैं—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

---

१. कैवल्यो०, १.१३, श्वेताश्वरो० १.१४ कठो०

२. पातञ्जल योगदर्शन, डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, प्रथम सं०, १९७८, पृ० २९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पर भी विद्वानों का आक्षेप है कि पतञ्जलि ने सर्वप्रथम योग का प्रयोजन न बतला कर योग की परिभाषा क्यों नहीं दी। इस प्रकार 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते' की दुहाई देकर डा० सम्पूर्णानन्द योगदर्शनकार को मन्द व्यक्तियों की पंक्ति से भी पीछे ढकेल देते हैं। सम्पूर्णानन्द जी के अनुसार पतञ्जलि ने योग दर्शन के अन्तिम सूत्र[1] में योग के प्रयोजन = कैवल्य का उल्लेख किया है जबकि ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही इसे दे दिया जाना चहिए था[2] हमारे विचार में यहां कुछ भी व्यतिक्रम नहीं है। पतंजलि प्रथमसूत्र १.१ द्वारा योग का अनुशासन करने चले हैं। यदि वे द्वितीय सूत्र में योग की परिभाषा न बतलाते तो यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वभाविक ही था कि वह योग है क्या? जिसका अनुशासन पतंजलि करना चाहते हैं। यह प्रश्न सामान्य नहीं था कि जिसका उत्तर कोई भी दे पाता। हो सकता था कि इस सूत्र के अभाव में अनेक व्याख्याकार अपनी-अपनी दृष्टि से योग की परिभाषा कर डालते। यदि ऐसा होता तो कितना अनर्थ होता। इसीलिए पतंजलि ने स्वयं ही योग की परिभाषा करके सभी विवादों एवं कल्पनाओं को तो समाप्त कर ही दिया साथ ही सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो उन्होंने इसके द्वारा ही योग दर्शन के पाठकों एवं योग के अभ्यासियों के लिए उनका प्रयोजन (लक्ष्य) भी निर्धारित कर दिया—चित्तवृत्तिनिरोध। योगाभ्यासियों का, कदाचित् पतंजलि का भी लक्ष्य चित्तवृत्ति निरोध ही है न कि कैवल्य प्राप्ति, जैसा कि सम्पूर्णानन्द जी मानते हैं। कैवल्य तो चित्तवृत्ति निरोध अथवा योग का फल है जो योगी को चित्तवृत्ति निरोध होने पर स्वतः प्राप्त हो जाता है। इसलिए व्यास जी ने लिखा है कि ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य कहलाती है तथा कैवल्य बिल्कुल इसके बाद बिना किसी व्यवधान के प्राप्त हो जाता है।[3] यह वही वैराग्य है जिसको कि पतञ्जलि चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय बतला रहे हैं।[4]

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्ति-रिति। यो० सू० ४.३४

२. योगदर्शन भूमिका, पृ० २२

३. ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।
यो० सू० १.१६ पर व्यास भाष्य

४. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (यो० सू० १.१२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगदर्शनकार केवल चित्तवृत्तियों का निरोध चाहता है। इसके फल में उसकी कोई अभिरुचि अथवा आसक्ति नहीं है। यहां पर यह विशेष रूप से अवधेय है कि यदि फल के प्रति योगी की आसक्ति बनी रही तब तो चित्तवृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध ही नहीं होगा। ऐसी दशा में योग सिद्ध नहीं हो सकता। चित्तवृत्तिनिरोध के फल में कोई आसक्ति न रखते हुए भी पतंजलि तृतीय सूत्र में ही इसके फल का उल्लेख कर देते हैं—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (यो० सू० १.३) चित्तवृत्तियों के निरोध के उपरान्त द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है जैसा कि कैवल्य में होता है।[1] इस प्रकार यहां पर कैवल्य का स्वरूप तो बतला दिया गया किन्तु उसे योग अथवा योगी के लक्ष्य रूप में परिगणित नहीं किया गया। योगदर्शन से यही अपेक्षा है। योगदर्शन के अन्तिम सूत्र में भी पतंजलि कैवल्य का स्वरूप मात्र बतलाते हैं उसको योग के प्रयोजन के रूप में स्वीकार नहीं करते। इसलिए व्यास जी ने इस सूत्र की उत्थानिका में लिखा है—गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्। तत्स्वरूपमवधार्यते। यह सूत्र तथा प्रथम पाद का तृतीय सूत्र लगभग एक ही है। इसलिए व्यास जी ने अन्तिम सूत्र के पदो 'स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिः' को ही यो. सू. १.३ की व्याख्या में 'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चित्तिशक्तिर्यथा कैवल्ये' के रूप में ज्यों का त्यों लिख दिया है। पतंजलि के इन सूत्रों में अन्तर केवल इतना है कि यो. सू. १.३ में चित्तिशक्ति की स्वरूपप्रतिष्ठा कही है जबकि योगदर्शन के अन्तिम सूत्र में कैवल्य का स्वरूप तथा चित्तिशक्ति की स्वरूप प्रतिष्ठा कही है। वस्तुतः ये दोनों एक ही हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। इसलिए व्यास जी ने अन्तिम सूत्र की व्याख्या में लिखा है— स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चित्तिशक्तिरेव केवला तस्याः सदा तदैवावस्थानं कैवल्यमिति।[2] इसलिए ऐसा आक्षेप करना कि पतंजलि ने योगदर्शन के प्रारम्भ में उसका प्रयोजन = कैवल्य नहीं कहा, युक्तिसंगत नहीं है।

यह भ्रान्ति कदाचित् इसलिए हुई है कि योग पद को 'युजिर् योगे' धातु से निष्पन्न मान लिया जाता है। इसके अनुसार आत्मा परमात्मा का मिलन होता है। जबकि पतञ्जलि के योग का यह उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य

---

१. स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चित्तिशक्तिर्यथा कैवल्ये (यो. सू. १.३ पर व्यास भाष्य)

२. यो. सू० ४. ३४ पर व्यासभाष्य, पृ० १८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल चित्तवृत्तियों का निरोध है। इसके निरुद्ध हो जाने पर समाधि सिद्ध हो जाती है। पतञ्जलि समाधि की सिद्धि में ईश्वर को भी साधन रूप में ही स्वीकार करते हैं, साध्य रूप में नहीं। वस्तुत: योगशब्द में 'युज् समाधौ' धातु है।[1] इसीलिए व्यास जी ने लिखा है-योग: समाधि:।

सम्बन्ध चतुष्टय

१. अधिकारी—ग्रन्थ के प्रारम्भ में अधिकारी आदि का कथन भी आवश्यक होता है। स्वयं सूत्रकार या व्याख्याकार भी इसकी चर्चा कर देते हैं। जैसे कि ब्रह्म सूत्रों में अधिकारी का साक्षात् वर्णन न होने पर भी शंकराचार्य ने अपनी व्याख्या में अधिकारी के सम्बन्ध में सब कुछ कह दिया है। योग सूत्रों में अधिकारी का कथन न होने पर भी व्यास जी ने स्पष्ट रूप में इसकी चर्चा की है। उन्होंने चित्त की क्षिप्त, मूढ़ विक्षिप्त, तथा एकाग्र चार अवस्थाएं मानी है। इनमें से केवल अन्तिम भूमिका वाला व्यक्ति ही योग का अधिकारी है, अन्य नहीं।[2] इस प्रकार योगसूत्रों एवं व्यास भाष्य के आधार पर अनुबन्ध चतुष्टय का प्रतिपादन इस प्रकार किया जा सकता है—(१) शास्त्रविषय=योग। (२) प्रयोजन=स्वरूपस्थिति। (३) अधिकारी=एकाग्रवृत्ति व्यक्ति। (४) सम्बन्ध=योग तथा शास्त्र में प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध।

एक आक्षेप वह भी है कि न तो योगसूत्रों तथा न उनके भाष्य अथवा टीकाकारों ने गुरु शिष्य सम्बन्ध के विषय में कुछ कहा है जबकि यह अनिवार्य है। ऐसा लिखते समय वे भूल जाते हैं कि योग दर्शन ही नहीं अपितु अन्य दर्शनों में भी गुरु शिष्य सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। दर्शनों का उद्देश्य अपनी-अपनी प्रक्रिया से अपने-अपने लक्ष्य का प्रतिपादन। करना रहा है न कि गुरु शिष्य सम्बन्ध का प्रतिपादन। ऐसा सम्बन्ध तो उपनिषदों में मिलेगा। योग भाष्य में व्यास जी एक स्थान पर योग को ही योगी का

---

१. 'युज् समाधौ' इत्यस्मादुत्पन्न समाध्यर्थो न तु 'युजिर् योगे' इत्यस्मात् संयोगार्थादित्यर्थ: (यो० सू० १.१ के व्यास भाष्य पर तत्त्ववैशारदी)

२. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रमितिचित्तस्य भूमय:। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूत: समाधिर्न योगपक्षे वर्त्तते। यस्त्वेकाग्रेचेतसि—

(यो० सू० १.१ पर व्यासभाष्य)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपाध्याय बतलाते हैं।[१] इसका अर्थ है कि योग में गति होने पर स्वयं योग द्वारा ही अभ्यासी का मार्ग प्रशस्त होते लगता है। कदाचित् इसीलिए कहा गया है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ।।

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर सम्पूर्णानन्द जी कहते हैं कि पतंजलि ने योग सूत्रों में स्पष्टता से काम न लेकर संकोचवृत्ति अपनायी है यहां तक कि भाष्यकार तथा वृत्तिकार ने भी योगदर्शन के विषयों को स्पष्ट नहीं किया है। यथा पतंजलि ने योग के विघ्नों के नाम गिनाए हैं। सम्पूर्णानन्द जी का विचार है कि इन नामों के अभिधेयार्थ से ही काम नहीं चलता अपितु विघ्नों के सम्बन्ध में कुछ और कहना चाहिए था जबकि सूत्रकार का अनुसरण करते हुए भाष्यकार टीकाकार और वृत्तिकार ने भी कुछ नहीं कहा। उदाहरण के रूप में सम्पूर्णानन्द जी 'स्त्यान' नामक योग विघ्न को उपस्थित करते हैं कि 'स्त्यान' क्या है ? यह नाम नाम से स्पष्ट नहीं होता।[२]

प्रतीत होता है कि व्यास भाष्य तथा तत्त्ववैशारदी आदि टीकाओं को देखे बिना ही सम्पूर्णानन्द जी ने ये बातें कह दी हैं। व्यास भाष्य में योगसूत्र में वर्णित सभी योग विघ्नों का अर्थ भलीभांति समझा दिया गया है। 'स्त्यान' के बारे में व्यास जी लिखते हैं 'स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य'। पंतजलि ने योग सूत्रों का प्रणयन् किया है न कि किसी भाष्य का। सूत्रों की यही शैली होती है जो कि पतंजलि ने अपनाई है। भाष्य अथवा टीका की सहायता से ही उनको समझा जा सकता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी को उसकी वृत्ति तथा भाष्य के बिना समझना इसीलिए दुष्कर है। यही दशा योगसूत्रों की है। अतः योगदर्शन-कार पर यह आक्षेप कि उन्होंने स्पष्टता से काम न लेकर संकोच दिखलाया है, समीचीन नहीं है। सूत्रों में संकोच ही होता है, विस्तार नहीं।

हमारा विचार है कि योगदर्शन में एक सुसयंत, क्रमिक योग साधना को निबद्ध किया गया है। साथ ही इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि पतंजलि स्वयं योग का अभ्यासी था। योगप्रक्रिया एवं उसकी विधाओं का वर्णन इतनी सूक्ष्मता

---

१. यो० सू० ३.६, व्या. भा० पृ० १००
२. योग दर्शन-भूमिका, पृ० १३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ वही व्यक्ति कर सकता है जिसने यह सब कुछ अनुभव किया हुआ हो। अतः यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि पतंजलि योग का पारदृष्टा आचार्य था। यहां पर एक हेतु यह भी है कि अपने वैशिष्टय के कारण ही आज योगदर्शन न केवल जीवित ही है अपितु प्रतिष्ठित एवं प्रामाणिक रूप में योगाभिलाषियों का मार्गदर्शक भी है। पातंजल योगदर्शन से पूर्व भी योग की अन्य प्रक्रियायें अथवा भेद विद्यमान थे सम्भव है कि शास्त्र रूप में भी कुछ हो किन्तु जिस प्रकार अन्य व्याकरणों को पीछे छोड़कर पाणिनीय व्याकरण ही हमारे सामने सुप्रतिष्ठित है उसी प्रकार अन्य प्रक्रियाओं को ओझल करके पांतजल योगशास्त्र ही सर्वातिशायी रूप में प्रतिष्ठत है, यह योगदर्शन की महत्ता का ही परिचायक है।

विविध ग्रन्थों में योग का उल्लेख

इस विषय में निश्चयात्मक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं कि योगशास्त्र स्वतन्त्र रूप में कब अस्तित्त्व में आया। वेदों से लेकर पुराणों तक प्रायः सभी ग्रन्थों में योग विषयक सामग्री उपलब्ध होती है। उपनिषदों में तो योग का पर्याप्त विस्तार है। सर्वप्राचीन वाङ्मय वेद में भी योग के संकेत योगपद एवं साक्षात् योग प्रक्रिया अनेक मन्त्रों में उपलब्ध होती है। ऋग्वेद १.१८.७, १.३४.६, १०.१३.१ आदि अनेक मन्त्रों में ऐसा वर्णन उपलब्ध है। यजुर्वेद अध्याय ११ के १-५ मन्त्रों में कुछ विस्तार से योग संकेत उपलब्ध है। युक्तेन मनसा (११.२) तथा युञ्जते मन उत युञ्जते धिया' (११.४) मन्त्रांश स्पष्ट रूप में मन की समाहित स्थिति को बतला रहे हैं। यजुर्वेद के ये पांचों मन्त्र श्वेताश्वर उपनिषद् अध्याय २.१-५ में ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। श्वेताश्वर उपनिषद् में कुछ विस्तृत रूप में योगचर्चा विद्यमान है इसीलिए उसमें यजुर्वेद से इन मन्त्रों को ग्रहण कर लिया। अथर्व० १६.८.२ में भी कई बार योग पद प्रयुक्त हुआ है जिससे इसकी व्याख्या योगपरक की जाती है। इस प्रकार वेदों में अन्य विषयों की भांति पर्याप्त योग संकेत उपलब्ध हैं।

वेदों के पश्चात् उपनिषद्, दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता आदि में भी योग विषयक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। यहां पर हमारा उद्देश्य उक्त सभी ग्रन्थों में उपलब्ध योगविषयक सामग्री का संकलन वा तुलना करना नहीं है अपितु उपनिषदों में उपलब्ध योग विषयक सामग्री तथा योगदर्शन की प्रक्रिया पर विचार करना है। इससे पूर्व अति संक्षेप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मण पुराण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध योग संकेतों का भी उल्लेख किया जाएगा।

अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार योगानुशासन तथा पाशुपत योग इन दोनों के प्रवर्त्तक हिरण्यगर्भ हैं। हरिशंकर जोशी के अनुसार इन्होंने दो योग संहिताएं रची (१) **निरोध संहिता**—इसमें बारह अध्याय थे तथा (२) **कर्मयोग-संहिता**—इसमें चार अध्याय थे।[1] अहिर्बुध्न्य संहिता में ही योग के बहिरंग तथा अन्तरंग दो भेद बतलाते हुए योग को यमादि अंगों वाला कहा गया है तथा योग की परिभाषा पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्ति निरोधात्मा कह कर की है।[2]

हिरण्यगर्भ का वर्णन याज्ञवलक्य स्मृति (१२.५) में भी उपलब्ध है किन्तु वहां पर 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नास्यः पुरातनः' कहकर इसे योग आदि का प्रवक्ता बतलाया गया है। यही पंक्ति महाभारत १२.३४९.६५ में भी प्राप्त होती है। एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि यह हिरण्यगर्भ वेदों में भी स्मृत है।[3] वस्तुतः वेदों में हिरण्यगर्भ का वर्णन है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२१ वां हिरण्यगर्भ सूक्त अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है।[4] यहां पर यह अवधेय है कि हिरण्यगर्भ को महाभारत के उक्त श्लोक में 'द्युतिमान्' तथा 'विभुः' कहा है। इन दोनों विशेषणों के अनुसार यही सिद्ध होता है कि निराकार, सर्वव्यापक, तेजोमय ब्रह्म को ही महाभारत में योग का आदि प्रवक्ता कहा गया है किसी व्यक्ति विशेष को नहीं। वेदों में इसी प्रकार के हिरण्यगर्भ का वर्णन है। इसीलिए अद्भुत रामायण में हिरण्यगर्भ को जगत् का अन्तरात्मा कहा है।[5]

कुछ लोग सांख्याचार्य कपिल को हो हिरण्यगर्भ कहते हैं तो अन्यों का विचार है कि हिरण्यगर्भ नामक कोई ऋषि योग का आदि प्रवक्ता था। डा०

---

१. सांख्ययोग का जीर्णोद्धार।

२. बहिरङ्गान्तरङ्गाख्यं यमाद्यङ्गनामवान्।
चित्तवृत्तिनिरोधात्मा योगो योगानुशासनम्॥

३. हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः॥ (महा० १२.३४२.९६)

४. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। ऋग० १०.१२१

५. हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा (अद्भुत रामायण ५.६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामशंकर भट्टाचार्य ने इस विचार के साथ अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहा है कि हिरण्यगर्भ शास्त्र अति विस्तृत था। उसके सार को ग्रहण करके ही पतंजलि ने योगदर्शन का प्रणयन् किया है।[1]

महाभारत के शान्ति पर्व, अश्वमेघ पर्व तथा अनुशासन पर्व में योग चर्चा की गयी है। वनपर्व २।४६ का श्लोकांश 'सन्तोषः परमं सुखम्' यो० सू० २।४२ 'सन्तोषादनुत्तमं सुखलाभः' के अनुसार ही है। महाभारतान्तर्गत गीता में तो अनेक स्थानों पर ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि के रूप में योग की विस्तृत चर्चा की गयी है। इसी प्रकार पुराणों में भी योगविषयक पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। इनमें वायु, शिव, ब्रह्म, गरुड़, विष्णु, अग्नि तथा लिङ्ग पुराण प्रमुख हैं। गरुड़ पुराण के अध्याय १४ में ध्यान योग का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है। अग्नि पुराण में क्रियायोग का उल्लेख है। विष्णु पुराण में पातंजल योग के समान ही यमनियम आदि आठों अंगों का उल्लेख करते हुए चित्त को विषयों से हटाकर परमेश्वर में लीन करने को योग माना है।[2] पतंजलि इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। इसी प्रकार भागवत पुराण २.२.१५, ४.६.८, शिव पुराण, लिङ्ग पुराण ९.३६-५२ श्लोकों में योग विषयक चर्चा प्राप्त होती है। वायु पुराण के दशम अध्याय में योगांगों से होने वाली लाभ हानि का उल्लेख किया गया है। अतिविस्तृत एवं असम्बद्ध होने के कारण पुराणगत योग सामग्री का यहां पर सर्वांश में उल्लेख नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि पुराणों में सांख्य तथा योग का वर्णन अतीव दोषयुक्त उपलब्ध होता है। इसका कारण यह भी है कि पुराण दर्शन ग्रन्थ नहीं हैं अतः योगविषय में उनको सर्वथा प्रमाण नहीं माना जा सकता।

दर्शन ग्रन्थों एवं उनके भाष्यों में अनेक स्थानों पर विस्तार से पातंजल योगदर्शन के समान ही योग प्रकरण विद्यमान है। सांख्य दर्शन को योगदर्शन से प्राचीन माना जाता है। सांख्य दर्शन में आसन, धारणा, ध्यान आदि योगाङ्गों का उल्लेख सूत्रों में ही किया गया है। यहां तक कि दोनों दर्शनों में कुछ सूत्र शब्दशः समान है। दोनों ही दर्शनों में सुखपूर्वक बैठने को आसन[3] कहा है तथा

---

१. पातंजल योगदर्शनम् भूमिका, पृ० २९-३०

२. वि. पु. अ. ३ अंश ६

३. स्थिरं सुखमासनम्—सा० सू० ३.३४ तथा यो० सू० २.४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पांच प्रकार की वृत्तियाँ मानी हैं।[१] सांख्य दर्शन में इन वृत्तियों के निरोध से ही ध्यान भी सिद्धि कही है।[२] योगदर्शन २.३ में अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश पांच क्लेश माने हैं। सां० सू० ३.३७ में इसी प्रकार विपर्यय के पांच भेद माने गए हैं। अन्तर केवल इतना है कि योगदर्शन में विपर्यय की गणना पञ्चवृत्तियों के अन्दर की गयी है। योगदर्शन में वृत्तियों के निरोध का उपाय अभ्यास तथा वैराग्य को बतलाया गया है।[३] सांख्यदर्शन में इसे ही इस रूप में कहा गया है कि अभ्यास तथा वैराग्य से समाधि लाभ होता है।[४] योग दर्शन के अनुसार कर्माशय के मूल में क्लेश ही रहते हैं अतः क्लेशों को नष्ट करने के लिए पतंजलि ने क्रियायोग का उपदेश दिया है।[५] सांख्य दर्शन में धारणा, ध्यान, अभ्यास, वैराग्य आदि के द्वारा क्लेशों को नष्ट करना कहा है।[६] सांख्य दर्शन में मन का विषयों से सर्वथा रहित होने की अवस्था का नाम ध्यान है।[७] यही बात पतञ्जलि ने 'तत्र प्रयत्यैकतानता ध्यानम्'— (यो० सू० ३.२) में भी इससे मिलती जुलती ही बात कही है। सांख्य के अनुसार जब मन निर्विषय हो जायेगा तभी अपने लक्ष्य के प्रति एकतान रहेगा। इस प्रकार सांख्य तथा योगदर्शन में अनेक बातों में समानता है। कदाचित् इसीलिए तो (गीता ५.४) में कहा गया है—साख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न मनीषिणः' सांख्यदर्शन के समान ही वेदान्त दर्शन में उपासना करने के लिए ध्यान का प्रतिपादन किया गया है।[८]

उपनिषदों में योग

संख्या की दृष्टि से उपनिषदें अनेक हैं उपनिषत्संग्रह में १८८ उपनिषदों को संगृहीतः किया गया है। इस संग्रह के अतिरिक्त अन्य भी कुछ उपनिषदें हैं जो अति अर्वाचीन काल तक भी लिखी जा रही हैं। इनमें से सबमें तो

---

१. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः—सा० सू० २.३३ तथा यो० सू० १.५
२. वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः – सा० सू० ३.३१
३. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः—यो० सू० १.१२
४. वैराग्याभ्यासाच्च —सा० सू० ३.३६
५. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च—यो० सू० २.२
६. ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः—सां० सू० ६.२९
७. ध्यानं निर्विषयं मनः—सां० सू० ६.२५
८. ध्यानाच्च – वे० सू० ४.१.८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं अपितु अधिकांश उपनिषदों में स्वल्प अथवा विस्तृत रूप में योगचर्चा उपलब्ध होती है। यहां पर सभी उपनिषदों को न लेकर ईशादि प्रधान एकादश उपनिषद् तथा कुछ अन्य उन उपनिषदों को लिया गया है जिसमें योगचर्चा विशेष रूप में उपलब्ध होती है। इनमें योग तत्त्व, ध्यानबिन्दु, नाद बिन्दु, शाण्डिल्य, त्रिशिख, नारद परिव्राजक, मण्डल ब्राह्मण, कैवल्य योग शिख, मैत्रायणी, ब्रह्मोपनिषद् आदि प्रमुख हैं। इन उपनिषदों में प्रकीर्ण रूप में सभी योगांगों का वर्णन पाया जाता है।

योग के अंग

कुछ उपनिषदों में पतंजलि के समान योग के आठ अंग माने जाते हैं किन्तु कुछ में केवल छः अंग ही माने गए हैं। यथा योगतत्त्वो०, श्लोक २५, वराहोपनिषद् ५.११.१२, ब्रह्म पुराण १२.१-२, जाबालदर्शनीय० १४-५ शाण्डिल्योपनिषद् में यम-नियम आदि आठों अंग योगदर्शन के समान स्वीकार किए हैं जबकि मैत्रायणी, ध्यान बिन्दु, योग चूड़ामणि तथा अमृतनाद उपनिषदों में योग के केवल छः अंग स्वीकार किए हैं। इनमें से योग चूड़ामणि तथा ध्यान बिन्दु उपनिषदों में समान रूप में एक श्लोक प्राप्त होता है जिसमें यम नियमों को छोड़कर शेष छः अंग पतंजलिवत् स्वीकार किए हैं।[1] मैत्रायणी उपनिषद् (श्लोक १८) तथा अमृतनाद उपनिषद् (श्लोक ६) में समान रूप में प्रत्याहार ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि योग के ये छः अंग स्वीकार किए हैं। इनमें पहली दोनों उपनिषदों की अपेक्षा आसन के स्थान पर तर्क को रख दिया गया है। डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी का विचार है कि मैत्रायणी उपनिषद् के उत्तरवर्त्ती होने पर सांख्य एवं योगदर्शन में योगाङ्गों में यमनियम का प्रवेश यह मानकर किया गया कि चारित्रिक उत्थान के बिना योग में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।[2] योगराज उपनिषद् में केवल आसन, प्राणायाम, ध्यान एवं समाधि ये चार ही योगांग माने गए हैं।[3] उक्त विवरण को देखने से एक बात

---

१. आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगागांनि भवन्ति षट्॥
— ध्यान बिन्दु श्लोक ४४- तथा योगचूड़ा० श्लोक २

२. पातंजल योग शास्त्र एक अध्ययन—पृ० ६

३. आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः।
एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्॥ (योगराज० १.२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट होती है कि समाधि की सिद्धि में जो योगांग साक्षात् सहायक हैं उनको ही योगराज आदि उपनिषदों ने योगांग मानकर अन्य अंगों को छोड़ दिया। आसन सिद्धि के बिना समाधि सिद्ध हो ही नहीं सकती। प्राणायाम समाधि में अत्यधिक सहायक है क्योंकि इससे विवेकज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म का नाश[1] होकर धारणा के लिए मन की योग्यता प्राप्त होती है।[2] समाधि का उद्देश्य भी मन को सर्वथा संस्कार सून्य करके स्वरूपावास्थिति प्राप्त करना है। पतंजलि प्राणायाम के द्वारा भी मनःस्थति का सम्पादन कहते हैं। ध्यान तो समाधि में अत्यन्त सहायक है ही। ध्यान की परिपक्व अवस्था होने पर जब वही ध्यान अर्थमात्र से भासने वाला तथा स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है, तब उसे ही समाधि कहते हैं। अर्थात् जब ध्यान में केवल ध्येय अर्थमात्र से भासता है तब वही ध्यान समाधि कहलाता है।[3] यहां शंका हो सकती है कि इसी प्रक्रिया में धारणा भी तो महत्त्वपूर्ण है उसकी गणना योगांगों में क्यों नहीं की गयी ? इसका यही उत्तर है कि यहां धारणा का प्रतिषेध नहीं है। ध्यान से पूर्व धारणा करनी ही होगी क्योंकि नासिकाग्र आदि किसी स्थान विशेष चित्त को लगाना (बन्ध) धारणा कहलाती है। यही धारणा जब एकतानता= एकाग्रता का रूप ले लेती है, तब ध्यान कहलाती है। अतः ध्यान का उल्लेख करने में ही धारणा का महत्त्व भी समझ लेना चाहिए। योग के शेष तीन अंगों यम, नियम तथा प्रत्याहर का उल्लेख सर्वत्र सम्भवतः इसलिए नहीं किया गया क्योंकि ये तीनो अंग एक स्थान पर बैठकर साधना करने के नहीं हैं अपितु जीवन में प्रतिदिन के व्यवहार में इनका क्रियात्मक रूप से प्रयोग करने से ही इनमें परिपक्वता आती है जबकि धारणा ध्यान तथा समाधि ये तीनों लम्बे समय तक आसन में बैठकर अभ्यास करने से परिपक्व होते हैं।

योग के प्रकार

दत्तात्रेय योग शास्त्र[4] तथा योगराज उपनिषद् में मन्त्र योग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग के रूप में चार प्रकार माने गये हैं। योगतत्त्वोपनिषद्

---

१. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्, धारणासु च योग्यता मनसः
—यो० सू० २.५२-५३

२. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य—यो० सू० १.३४

३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः—यो० सू० ३.३

४. मन्त्रोयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च।
राजयोगश्चतुर्थः स्याद्योगानामुत्तमस्तुसः॥ दत्ता० योग० १८.१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इन चारों प्रकार के योगों का उल्लेख करते हुए इनके लक्षण इस प्रकार दिए हैं। (१) **मन्त्र योग**—मातृकारि युक्त मन्त्र को १२ वर्ष तक जपने के पश्चात् क्रमश: अणिमा आदि सिद्धियां साधक को प्राप्त होती हैं। (२) **लय-योग**—चलते-फिरते, खाते-पीते, यहां तक कि सोते हुए भी सर्वदा ईश्वर का ध्यान करता रहे, इसे लययोग कहते हैं। (३)—मुद्राओं तथा बन्ध आदि से युक्त **हठयोग** तथा (४)—यम नियम आदि आठों अंगों से मुक्त **राजयोग** कहलाता है। योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार मन्त्रयोग का आश्रय अधम साधक लेते हैं।[1] योगशिखोपनिषद् में कहा गया है कि उक्त मन्त्र आदि चारों योगों को महायोग कहा जाता हैं।[2] इस उपनिषद् के अनुसार इन चारों योगों में एक क्रम है। पहले योग के साधनों के बाद ही उत्तरोत्तर योग सिद्ध होते हैं।

(१) **मन्त्र योग**—इसका लक्षण दिया है कि 'सोऽहं सोऽहमिति' जप करना मन्त्रयोग कहलाता है। इसका लाभ यह है कि योगपथ में साधक की प्रीति होती है।

(२) **हठयोग**—योगशिखोपनिषद् में हठ के हकार द्वारा सूर्य का ग्रहण तथा ठकार के द्वारा चन्द्रमा का ग्रहण किया है। सूर्य तथा चन्द्रमा के ऐक्य को ही यहां पर हठयोग माना गया है। योग सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में सूर्य तथा चन्द्रमा के द्वारा इडा तथा पिंगला नाड़ियों का ग्रहण भी किया जाता है। इनमें चलने वाले श्वास की एकता ही कदाचित् योगशिखोपनिषद्कार को अभिप्रेत हो। इसका लाभ बतलाते हुए यहां पर कहा गया है कि हठयोग के द्वारा सभी प्रकार की जड़ता दूर हो जाती है।

(३) **लययोग**—सूर्य तथा चन्द्र के ऐक्य के सिद्ध हो जाने पर साधक का चित्र विलीनता को प्राप्त कर लेता है, यही लययोग कहलाता है।[3] इसका लाभ यह बतलाया है कि लययोग से पवन अर्थात् प्राण स्थिर हो जाता है तथा स्वात्मानन्द की प्राप्ति होती है।

(४) **राजयोग**—योगशिखोपनिषद् के अनुसार यम-नियम आदि अंगों से मुक्त राजयोग नहीं कहलाता अपितु महाक्षेत्र में जपाकुसुम के समान रजतत्त्व देवीतत्त्व से समावृत होकर रह रहा है। रज तथा रेतस् के योग को ही यहां

१. योगतत्त्वोपनिषद्—श्लो० २१.२५
२. एकं एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते—योगशिखो० १.१३०
३. वही० १.१३१-१३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर राजयोग कहा गया है। इस उपनिषद् में राजयोग का लाभ अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति कही है।[१] इस प्रकार यह विदित होता है कि योगशिखोपनिषद् का लक्ष्य समाधि न होकर अणिमादि की सिद्धि मात्र रहा है इसीलिए इसमें राजयोग की वह परिभाषा भी नहीं दी गयी जो कि अन्य उपनिषदों में पतंजलि के अनुसार यम-नियम आदि आठ अंगों से युक्त राजयोग माना गया है।

मन्त्र, लय आदि उक्त चारों प्रकार के योगों में सभी उपनिषदों में राजयोग का प्रायः वही स्वरूप है जो कि पातंजल योगदर्शन के अष्टांग योग का है। यदि कहीं पर भेद किया गया है तो वह इस प्रकार से है कि पातंजल योग में यम नियमादि ८ अंग माने गए हैं किन्तु किसी उपनिषद् में यम नियमों को छोड़कर ६ अंग ही मान लिए गए हैं इसके साथ ही कुछ उपनिषदों में यम नियम की संख्या १०-१० तक कर दी गई है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि यम नियमों का प्रमुख प्रयोजन आचार की शुद्धि है। इस शुद्धि को ध्यान में रखकर ही यम नियमों की संख्या बढ़ा दी गयी है। हठयोग का वर्णन यद्यपि पातंजल योग सूत्रों में नहीं है किन्तु वह भी राजयोग की सिद्धि में ही सहायक है। शेष दोनों योगों का उद्गम भी योगदर्शन ही प्रतीत होता है। यद्यपि पातंजल योगदर्शन में मन्त्र योग तथा लययोग का पृथक् रूप में कहीं पर भी उल्लेख नहीं हुआ है तथापि वहां पर इनके संकेत अवश्य विद्यमान हैं। यथा—पतंजलि 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' के द्वारा प्रणव के जप का विधान करते हैं। उपनिषदों में इसी प्रकार जप करने को मन्त्र योग कह दिया गया है। इसके अतिरिक्त पतंजलि ईश्वर प्रणिधानाद्वा (यो० सू० १.२३) के द्वारा भीस माधि की सिद्धि मानते हैं। व्यासजी ने ईश्वर प्रणिधान का अर्थ भक्ति विशेष किया है। उपनिषदों में भी लययोग का यही स्वरूप बतलाया गया है कि चलते-फिरते, खाते पीते सदैव ईश्वर का ध्यान करना। यह एक प्रकार से भक्ति विशेष ही है।

तारकयोग तथा अमनस्कयोग— मण्डल ब्रह्मण उपनिषद् में इन दो प्रकार के योगों का उल्लेख प्राप्त होता है।[२] इसमें तारकयोग[३] के पुनः दो भेद किए

---

१. रजसोरेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः—योग शिखो० १.१३७
अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः—वही, १.१३८
२. पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति—मण्डल ब्रा० १.३
३. ऋषिर्दर्शनात् (नि० २.११) की व्याख्या के प्रसङ्ग में दुर्गाचार्य कहते हैं कि ऋषि लोग मन्त्रों को तारक ज्ञान से देखते हैं - मन्त्रा स्तोमाः। तानसौ तारकेण ज्ञानेन पश्यतीत्येवौपमन्यव आचार्यो मन्यते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गए हैं—(१) मूर्तितारक तथा (२) अमूर्तितारक। इनमें इन्द्रियान्त को मूर्तितारक तथा भ्रूयुगातीत को अमूर्तितारक कहते हैं। इन दोनों योगों का अभ्यास मन सहित करना चाहिए। भ्रूयुग के मध्य ध्यान करने से तेज का आविर्भाव होता है। इस प्रकार यह पूर्वतारक योग कहलाता है। उत्तरतारक को अमनस्क योग कहते हैं। तालु के मूल तथा ऊर्ध्वभाग में महाज्योति विद्यमान है इसके दर्शन से अणिमादि की सिद्धि होती है।[1] इन दोनों प्रकार के योगों का विवेचन करने से प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् में ध्यान को प्रमुखता दी गई है। अतः एव भ्रूमध्य आदि स्थानो में ध्यान करने का विधान यहां पर किया गया है। पातंजल योगदर्शन में भी विभिन्न स्थानो में ध्यान करना कहा गया है। यहां पर यह भी अवधेय है कि मण्डलब्राह्मण उपनिषद् में कर्म करते रहने का उपदेश दिया गया है। सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त कर्म करते रहना चाहिए किन्तु यदि नासाग्र में दृष्टि जमाकर प्रणव का जप करते हुए उसकी ध्वनि में ही मन को लीन करले तो ऐसे साधक के ऊपर कर्म का संस्कार नहीं पड़ता।[2] एक प्रकार से यहां पर निष्काम कर्म करते रहने का उपदेश दिया गया है। गीता में इसी निष्काम कर्म का प्रतिपादन इतने बल से किया गया है कि इसे निष्काम कर्मयोग ही कहा जाने लगा। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार उक्त दोनों प्रकार के योगों को करने का उद्देश्य मन को सर्वथा विषय रहित बना देना है क्योंकि निर्विषय मन ही मोक्ष प्राप्त कराता है तथा विषयों से मुक्त मन बन्धन का कारण बनता है।[3]

अन्य प्रकार के योग

उपर्युक्त मन्त्र, लय, हठ तथा राजयोग के आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त योग के अन्य कुछ नाम भी उपनिषद् में प्राप्त होते हैं यथा अध्यात्मयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के रूप में योग के दो भेद किए गए हैं। सदैव विहित कर्मों

---

१. तालुमूलोर्ध्वभागे महाज्योतिर्विद्यते। तदर्शनादणिमादि सिद्धिः।
—वही, १.३

२. तस्य न कर्मलेपः। रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्त्तव्यम्। —वही, २.२

३. सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति।—वही, ४.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही अपने मन को लगाने को यहां पर कर्मयोग[१] कहा गया है इसके विपरीत मन को कल्याण के मार्ग में लगाने को ज्ञानयोग कहते हैं।[२] कदाचित् यहां पर कल्याण के मार्ग में मन को लगाने से उपनिषद्कार का आशय धारणा, ध्यान आदि की प्रक्रिया के द्वारा समाधि की सिद्धि करना ही है क्योंकि यहां पर यमनियम आदि सभी योगांगों का प्रतिपादन किया गया है। यहां पर 'सोऽहं-चिन्मात्रम्' इस प्रकार से चिन्तन करने को ध्यान कहा गया है तथा ध्यान की विस्मृति को ही समाधि माना है।[३] पतंजलि के अनुसार भी समाधि की यही परिभाषा है—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि: (यो० सू० ३.३) कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का वर्णन गीता में भी विस्तार से हुआ है। गीता के ही एक श्लोक में कहा गया है कि योगी लोग ध्यानयोग, सांख्ययोग तथा कर्म योग द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार अपनी आत्मा में करते हैं।[४] यहां पर ये तीनों पद पृथक्-पृथक् अर्थ में प्रयुक्त हैं। इनके अतिरिक्त उपनिषदों में ध्यान योग तथा अध्यात्मयोग पदों का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। नीचे इन पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है।

(१) **ध्यानयोग**—श्वेताश्वर उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मवादी लोगों ने ध्यानयोग के द्वारा देवों के भी देव परमात्मा की आत्मशक्ति को देखा।[५] ध्यानयोग का अर्थ है—'ध्यानं प्रधानं यस्मिन्' अर्थात् जिसमें ध्यान ही प्रमुख है। पातंजल योगदर्शन में ध्यान समाधि से कुछ ही पहली स्थिति है। इसी ध्यान का वर्णन श्वेताश्वर उपनिषद् में किया गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् में वर्णित योग प्रक्रिया का अष्टांगयोग की प्रक्रिया से पर्याप्त साम्य है। योगदर्शन के समान इस उपनिषद् में भी क्लेशों की सत्ता स्वीकार की गई है तथा क्लेशों के नाश होने से जन्म-मृत्यु से छुटकारा कहा है।[६] योगदर्शन में जो अविद्या आदि क्लेश कहे हैं उनकी ओर ही यहां पर संकेत है। इसी उप-

---

१. त्रिशिख ब्राह्मणो० श्लोक २५-२७

२. वही

३. ध्यानस्य विस्मृति: सम्यक् समाधिरभिधीयते—त्रिशिख० श्लोक ३१

४. ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ गीता, १३.२४

५. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्—श्वेता० १.३

६. क्षीणै: क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणि:। वही, १.११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषद् के द्वितीय अध्याय में ध्यान में बैठने का प्रकार भी समझाया है कि कंकड़ आदि से रहित समप्रदेश में बैठकर छाती, ग्रीवा तथा सिर इन तीनो को एक सीध में करके मन के सहित इन्द्रियों को हृदय में लगाकर अर्थात् वाह्य विषयों से हटाकर प्राणायाम करके ध्यान करे।[1] श्वेताश्वरोपनिषद् के समान ही गीता[2] तथा कैवल्योपनिषद्[3] श्वेताश्वरोपनिषद् में भी ध्यान की ठीक यही प्रक्रिया बतलायी गयी है। स्पष्ट है कि ध्यान की यह प्रक्रिया अष्टांग योग की ही है। अतः यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि गीता तथा उपनिषद् में 'ध्यानयोग' के द्वारा अष्टांग योग द्वारा विहित ध्यान ही अभिप्रेत है। इसीलिए गीता अध्याय १३-२४ में ध्यानयोग का ग्रहण ज्ञानयोग तथा कर्मयोग से पृथक रूप में किया गया है।

(२) **सांख्ययोग**—भगवद्गीता १३.२४ में सांख्ययोग को ध्यानयोग से पृथक् माना है। सांख्ययोग का ही अपर नाम ज्ञानयोग है। कठोपनिषद् में इसे ही अध्यात्मयोग कहा गया है।[4] 'आत्मनि अधि इति अध्यात्म' अर्थात् आत्मा को लक्ष्य करके जो कुछ कहा या किया जाए वह अध्यात्म कहलाता है। कठोपनिषद् में नचिकेता ने तृतीय वर के रूप में यमाचार्य से यही आत्म-विषयक प्रश्न पूछा था कि आत्मा है या नहीं, है तो मरकर कहाँ जाता है, इत्यादि। यमाचार्य ने उत्तर में आत्मा का स्वरूप एवं उसकी गति का वर्णन विस्तार से करके नचिकेता की जिज्ञासा शान्त की। इसीलिए वहाँ पर इसे अध्यात्मयोग कहा गया है। यह योगदर्शन में वर्णित अष्टांग योग कि वा ध्यानयोग से कुछ भिन्न है। एक आत्मा के द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा दोनो का ही चित्रण किया जाता है। इसीलिए यमाचार्य नचिकेता को आत्मा तथा परमात्मा दोनो के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं। इसमें योगदर्शन की ध्यान-प्रक्रिया को न अपनाकर गुरुमुख अथवा शास्त्रमुख से आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त किया जाता है जबकि ध्यानयोग में ध्यान द्वारा आत्मा का साक्षात् दर्शन किया जाता है। कठोपनिषद् में यह ज्ञान यमाचार्य द्वारा नचिकेता को तथा भगवद्-गीता में श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया है। ज्ञान की प्रधानता होने के

---

१. श्वेताश्वरोपनिषद्, २.८-१०

२. भगवद्गीता ६.११-१३

३. कैवल्योपनिषद् १.५-६

४. अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरोहर्षशोकौ जहाति कठो० १.२.१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण ही इसे ज्ञानयोग भी कहा जाता है—ज्ञानं प्रधानं यस्मिन् । सांख्य को भी ज्ञान का शास्त्र कहा जाता है क्योंकि वहाँ पर भी पुरुष, प्रकृति आदि के बारे में ज्ञान कराया गया है । जब अर्जुन मोह में ग्रस्त होकर 'नयोत्स्ये' कह कर बैठ जाता है तब भगवान् कृष्ण उसे उपदेश द्वारा आत्मा के विषय में यही ज्ञान प्राप्त कराते हैं कि आत्मा अजर अमर इत्यादि है । आत्मा का ठीक यही स्वरूप कठोपनिषद् में यमाचार्य ने नचिकेता को बतलाया है । आत्मविषय में ज्ञान प्रदान करने के उपरान्त भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं 'युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि' अर्थात् आत्मा के इस वास्तविक स्वरूप को समझ कर तू युद्ध कर, तुझे पाप नहीं लगेगा । इतना कहकर कृष्ण कहते हैं—एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः सांख्ये[1] अर्थात् अब तक मैंने तुझे सांख्य का उपदेश दिया है । यह वही सांख्ययोग है जिसके विषय में गीता (१३.२४) में कहा गया है कि कुछ विद्वान् सांख्ययोग के द्वारा आत्मदर्शन करते हैं । स्पष्ट है कि यहाँ पर पातंजल योग के समान ध्यान की प्रक्रिया अभिप्रेत नहीं है । युद्धकाल में मोह से ग्रस्त अर्जुन को योगदर्शन के ध्यान का उपदेश देना न तो सम्भव ही था न प्रासङ्गिक ही । युद्धस्थल में ध्यान कैसा ? यह तो साधना का विषय है । अतः यही मानना उचित है कि सांख्ययोग, ज्ञानयोग, अथवा अध्यात्मयोग के द्वारा आत्मविषयक ज्ञान ही अभिप्रेत है, योगदर्शन प्रतिपादित ध्यान नहीं ।

(३) **कर्मयोग**— कर्मयोग से अभिप्राय निष्काम कर्मयोग से है । भगवद्-गीता में योग पद के द्वारा प्रायः निष्काम कर्मयोग का ही उपदेश दिया गया है[2] जबकि दूसरे प्रकार के योगों का उल्लेख ज्ञानयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग[3] आदि पदों द्वारा किया गया है । गीता में निष्काम कर्मयोगी को ही योगी कहा गया है तथा अर्जुन को ऐसा ही योगी होने का उपदेश भगवान् कृष्ण दे रहे हैं ।[4] गीता के द्वितीय अध्याय के श्लोक ९ तक मोहग्रस्त अर्जुन युद्ध न करने में कई तर्क देकर युद्ध न करने की घोषणा करके चुप हो जाता है ।[5] इसके

---

१. गीता २.३९

२. गीता २.४८ ५-१-२, ५.७, ५.११

३. वही १३.२४

४. वही ४.४२, ६ ४६

५. न योत्स्य इति गोविन्दमुक्तवा तूष्णीं बभूव ह । गीता २.९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०·२
२१०:५

बाद भगवान् कृष्ण कई प्रकार से अर्जुन के मोहभंग का प्रयास करते हैं। वे सर्वप्रथम द्वितीय अध्याय के श्लोक ११ से ३८ तक अर्जुन को सांख्यज्ञान द्वारा आत्मा की अमरता का उपदेश देकर उसका मोहभंग करते हैं। इसके बाद वे योग = निष्काम कर्मयोग के उपदेश द्वारा ऐसा करते हैं। दोनों में पार्थक्य बतलाते हुए श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं कि अब तक तुमको सांख्य = ज्ञानयोग का उपदेश किया है अब योग = निष्काम कर्मयोग को सुनो।[1] दूसरे अध्याय के श्लोक ४७ से श्लोक ५१ तक वे अर्जुन को कर्मयोग का रहस्य समझाते हुए कहते हैं कि फल की इच्छा छोड़कर सिद्धि तथा असिद्धि में समान भाव रखते हुए तू कर्म कर। सिद्धि तथा असिद्धि में यह समत्व भाव ही योग कहलाता है।[2] यदि हम समत्व भाव से कार्य करे तथा इस लोक में ही पुण्य, पाप दोनो को छोड़ दे दो इस कर्मकौशल को ही योग कहते हैं।

श्री कृष्ण अर्जुन को इसी योग में लग जाने की प्रेरणा दे रहे हैं।[3] इस कर्मकौशल अथवा समत्वभाव को ही निष्काम कर्मयोग अथवा अनासक्ति योग कहते हैं। श्री कृष्ण इस योग का फल बतलाते हुए कहते हैं कि कर्मों से उत्पन्न फल को छोड़कर, जन्म तथा बन्ध से मुक्त होकर अमृत पद प्राप्त किया जाता है (श्लो० २.५१)। भगवान् कृष्ण का मुख्य उद्देश्य अर्जुन के मोह को दूर करना है, योग का उपदेश देना नहीं। इसी मोहभंग के लिए वे सर्वप्रथम, सांख्य ज्ञान अथवा अध्यातमयोग का आश्रय लेते हैं। पुनः इसी प्रयोजन के लिए निष्काम कर्मयोग का उपदेश अर्जुन को करते हैं। इसीलिए वे स्वयं कहते हैं—यदा ते मोहकलिल बुद्धिर्व्यतितरिष्यति' (श्लो० २.५२)। इसके बाद इसी प्रयोगजन की सिद्धि के लिए भगवान् कृष्ण दूसरे अध्याय के श्लोक ५३ से आगे समाधि आदि की चर्चा करते हुए ध्यानयोग अथवा अष्टांगयोग पर भी प्रकाश डालते हैं। कृष्ण कहते हैं कि जब मनुष्य मन में स्थित सभी इच्छाओं को छोड़ देता है तब स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (श्लो० २.५५)। जो बात यहाँ पर कही गयी है, वही 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' (यो० सू० १.२) के द्वारा कही गयी है। दोनो का अभिप्राय है—चित्त की वृत्तियों अथवा कामनाओं

138299

---

१. एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु। गीता २.३९

२. योगस्थःकुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जयः।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्व योग उच्यते ।। गीता २.४७

३. तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। वही २.५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सर्वथा निरोध। अन्य एक श्लोक में तो भगवान् कृष्ण स्पष्ट रूप में कहते हैं कि इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेने वाले व्यक्ति की बुद्धि ही स्थिर हो सकती है अन्य की नहीं।[१] पतंजलि ने प्रत्याहार की यही परिभाषा दी है कि इसमें चित्त इन्द्रियों सहित अपने विषयों को त्यागकर ध्यानावस्थित हो जाता है।[२] इससे आगे भगवान् कृष्ण चित्त की प्रसन्नता के साधन बतलाते हैं कि राग-द्वेष से रहित होने पर ही चित्त प्रसाद को प्राप्त किया जा सकता है। पतंजलि ने राग तथा द्वेष की गणना पंच क्लेशों[3] में करके इनको छोड़ने का उपदेश दिया है। पतंजलि ने भी चित्त की प्रसन्नता के साधन (यो० सू० १.३३) दिए हैं, उसी प्रकार गीता में भी ऐसा ही कहा गया है। श्री कृष्ण अन्त में इस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कह देते हैं जिसे प्राप्त करके व्यक्ति फिर मोह को प्राप्त नहीं होता।[४] इस प्रकार अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग तथा ध्यानयोग का उपदेश करके भगवान् कृष्ण चुप हो जाते हैं।

श्री कृष्ण से इस प्रकार का विविध उपदेश सुनकर ही अर्जुन शंका करता है कि यदि आप कर्म की अपेक्षा ज्ञान मार्ग को श्रेष्ठ कहते हैं तो फिर मुझे इस युद्ध रूपी घोर कर्म में क्यों लगा रहे हो? (श्लोक ३.१) अर्जुन का यह प्रश्न स्वाभाविक है क्योंकि अब तक वह इन मार्गों को भिन्न-भिन्न समझ रहा है। भगवान् कृष्ण इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट करते हैं कि मैंने अब तक दो प्रकार के मार्ग बतलाए हैं सांख्यानुयायियों के लिए ज्ञान मार्ग तथा कर्मानुयायी योगियों के लिए निष्काम कर्मयोग का मार्ग।[५] इसके बाद कृष्ण पुनः अध्याय ३.४ से ३.३० तक कर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं कि बिना कर्म किए तो कोई भी नहीं रह सकता। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही

---

१. यदा संहरते चायं कूर्मो ऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रिणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ गीता २.५८

२. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपनुकार इव प्रत्याहारः। यो० सू० २.५४

३. अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः यो० सू०

४. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। गीता २.७१

५. लोकेऽस्मिन् द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। गीता ३.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठ है (३.८) यज्ञीय भावना किया जाता हुआ यह कर्म बन्धन का कारण नहीं बनेगा।[१] इसलिए यज्ञीय-भावना से युक्त होकर हे अर्जुन तू अनासक्त होकर सतत कर्म करता रह।[२] इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न 'मुझे आप युद्ध रूप कर्म में क्यों लगा रहे हैं' का समाधान करते हुए कृष्ण उसे पुनः युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं।[३]

निष्काम कर्म के प्रतीक रूप में भगवान् कृष्ण यज्ञ को उपस्थित करके अर्जुन को यज्ञमय कर्म करने का उपदेश देते हैं क्योंकि यज्ञ में कर्म तथा निष्कामता दोनो का समन्वय है। यज्ञ की चर्चा चलाते-चलाते कृष्ण द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ की ओर बढ़ जाते हैं तथा ज्ञानयज्ञ को द्रव्ययज्ञ से इसलिए श्रेष्ठ बतलाते हैं कि ज्ञाने में समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं।[४] इसके बाद भगवान् कृष्ण पुनः सांख्य प्रतिपादित ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं ज्ञान के समान अन्तःकरण को पवित्र करने वाला अन्य कोई उपाय नहीं है।[५] इस ज्ञान को श्रद्धावान् पुरुष ही प्राप्त कर सकता है, संशयात्मा नहीं।[६] कठोपनिषद् में भी नचिकेता ने आत्मविषयक तृतीय वर मांगने के समय यही कहा था—प्रब्रूहि तच्छ्रद्दधानाय मह्यम्। श्रद्धा, ज्ञान प्राप्ति की अनिवार्य शर्त है। श्रद्धा के बिना संशययुक्त होकर व्यक्ति भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान तथा निष्काम कर्मयोग का उपदेश देकर अन्त में कृष्ण पुनः कहते हैं कि हे अर्जुन! तू अपने संशय को दूर करके युद्ध रूपी निष्काम कर्मयोग में लग जा।[७]

कृष्ण से सांख्य प्रतिपादित ज्ञान तथा निष्काम कर्मयोग इन दोनो का उपदेश सुनकर अर्जुन संशयग्रस्त होकर पुनः प्रश्न करता है कि आपने संन्यास तथा योग दोनों का उपदेश मुझे दिया है। इन दोनो में कौन-सा श्रेष्ठ है, यह मुझे बतलाइए (श्लोक ५.१)। इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं कि वे दोनो ही

---

१. गीता, ३.९

२. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। गीता ३.१९

३. निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः। गीता ३.३०

४. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ गीता ४.३३

५. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता ४.३८

६. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः समतेन्द्रियः। वही ४.३९

७. छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत। वही ४.४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्ग श्रेष्ठ है, निःश्रेयस्कर है तथापि ज्ञानयोग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।[1] यहाँ पर यह अवधेय है कि अर्जुन द्वारा कथित 'योग' के स्थान पर कृष्ण 'कर्मयोग' का नाम ले रहे हैं। यह कर्मयोग वही निष्काम कर्मयोग है जिसका उन्होंने इससे पूर्व प्रतिपादन किया है। इस प्रकार यह निश्चित है कि गीता में योग पद का प्रयोग निष्काम कर्मयोग के अर्थ में हुआ है न कि अष्टांगयोग आदि अन्य योग के अर्थ में। सांख्ययोग तथा निष्काम कर्मयोग की तुलना करते हुए ही भगवान् कृष्ण कहते हैं कि इन दोनो मार्गों को अज्ञानी व्यक्ति ही पृथक्-पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं,[2] वस्तुतः ये दोनो एक ही हैं। भ्रान्तिवश कृष्ण के इस वचन का यह अभिप्राय लगाया जाता रहा है कि सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र दोनो एक ही हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। निष्काम कर्मयोगी के लिए ही कृष्ण कह रहे हैं कि ऐसा व्यक्ति कार्य करते हुए भी उनके फल से लिप्त नहीं होता—कुर्वन्नपि न लिप्यते (गीता ५.७) इसीलिए निष्काम कर्मयोगी फल में आसक्ति को छोड़कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।[3] एक स्थान पर तो श्रीकृष्ण निष्काम कर्मयोगी को तपस्वियों से, ज्ञानियों से तथा सकाम कार्य करने वालों से भी श्रेष्ठ कहते हैं तथा अर्जुन को ऐसा ही निष्काम कर्मयोगी बनकर इसे युद्ध करने का उपदेश देते हैं।[4]

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण का मूल उद्देश्य अर्जुन के मोह को दूर करके उसे युद्ध के लिए तैयार करना था। इसके लिए उन्होंने सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग तथा राजयोग का उपदेश उसे किया। इनका उपदेश करते हुए भी वे अर्जुन को बार-बार योगी = निष्काम कर्म योगी बनने पर जोर दे रहे हैं क्योंकि तभी वह युद्ध में प्रवृत्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

वस्तुतः सांख्ययोग तथा अष्टांगयोग में बहुत अधिक अन्तर नहीं है जबकि निष्कामकर्मयोग कुछ अलग ही है। सांख्य तथा अष्टांगयोग दोनों में ध्यान,

---

१. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ गीता ५.२

२. सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिताः। गीता ५.४

३. योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये। वही ५ ११

४. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ गीता ६.४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधि का महत्त्व समान है क्योंकि दोनों का लक्ष्य अन्तर्मुख होना है जबकि कर्मयोग में फलासक्ति रहित कर्म मात्र प्रधान है। इस विषय में स्वामी ओमानन्द तीर्थ लिखते हैं —

अष्टांग योग के पहले पांच बहिरंग साधन सांख्य और योग में समान हैं किन्तु जहां योग में सालम्बन अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा किसी विषय को ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होते हैं वहां सांख्य में निरालम्ब अर्थात् बिना किसी विषय को ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होते हैं। उसमें धारणा, ध्यान तथा समाधि के स्थान में गुण ही गुणों में बरत रहे हैं' इस भावना से आत्मा को चित्त से पृथक् अकर्त्ता केवल शुद्ध स्वरूप में देखना होता है।[1] इस प्रकार साधनों के भेद से योग को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ध्यानयोग अथवा राजयोग—पतंजलि ने इसके आठ अंग माने हैं अतः यह अष्टांगयोग भी कहा जाता है जबकि कुछ उपनिषदों ने इसके केवल ६ अंग ही मानकर इसे षडंगयोग कहा है। (२) ज्ञानयोग अथवा सांख्ययोग = आत्मविषयक ज्ञान की प्रधानता होने के कारण इसे अध्यात्मयोग भी कहते हैं। (३) कर्मयोग अथवा अनासक्तियोग—इसमें फलेच्छा रहित निष्काम कर्म ही प्रधानता होने के कारण इसे निष्काम कर्मयोग भी कहते हैं। (४) **हठयोग**—इसमें हठपूर्वक बन्ध मुद्राएं आदि विविध क्रियायें की जाती हैं अथवा 'ह' का अर्थ सूर्य—पिंगला-नाडी तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा = इडा नाडी के योग के कारण इसे हठयोग कहते हैं। (५) जपयोग अथवा मन्त्रयोग—इसमें स्वाभिमत मन्त्र के जप की प्रधानता रहती है। योगदर्शन में भी इसके संकेत हैं। (६) भक्तियोग अथवा लययोग— इसमें ईश्वर भक्ति में अपने आप को लीन कर दिया जाता है। श्रीमद्भागवत ३.३२.३५ में 'योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि' कह कर भक्तियोग को अन्य योगों से पृथक् माना है। वस्तुतः पातञ्जल योग में नियमों के अन्तर्गत ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख भी किया गया है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ व्यासजी ने यो. सू. १.२३ के भाष्य में भक्ति विशेष ही किया है। इस प्रकार भक्तियोग एक प्रकार से अष्टांगयोग में ही अन्तर्भूत है। इसी आधार पर डा० रामशंकर भट्टाचार्य ने भक्तियोग की पृथक् गणना को भागवतकार का अज्ञान ही कहा है।[2] प्रतीत होता है कि अष्टांगयोग के

---

१. पातञ्जलयोगप्रदीप, पंचम संकरण सं० २०२४ पृ० ८५

२. पातंजल योगदर्शन, भूमिका पृ० १५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत होते हुए भी भक्ति ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व स्थापित कर लिया था तभी तो योगदर्शनकार को इसका पृथक् उल्लेख करने की आवश्यकता पड़ी अन्यथा नियमों में तो इसका परिगणन कर ही दिया था। उपनिषदों में प्रधानतया ध्यानयोग तथा ज्ञानयोग का वर्णन है। इसका अर्थ यह नहीं कि उपनिषदें कर्म की विरोधी हैं। ईशोपनिषद्[1] कठोपनिषद् आदि में निष्काम कर्मयोग का भी प्रतिपादन किया गया है। डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी का विचार है कि आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में जितने भी उपाय प्रचलित थे उन्हें योग के नाम से अभिहित किया जाता था इसकी सूचना हमें श्री भगवत्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में निबद्ध पुष्पिकाओं से मिलती है।[2] इसी आधार पर आपने गीता में उल्लिखित विषाद्योग आदि को भी योग के अन्दर समाविष्ट कर लिया है। इसके उदाहरण स्वरूप आपने कलिंग की घटना को उपस्थित किया है कि जिससे खिन्न होकर सम्राट् अशोक युद्ध से उपरत हो गया था। यह कहना उचित नहीं है कि गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में आये विषाद्योग आदि नाम योग के अन्तर्गत हैं क्योंकि अन्यत्र न तो इनका कहीं उल्लेख प्राप्त होता है तथा न स्वयं गीता से भी इस बात की पुष्टि होती है। अशोक को विषाद के कारण युद्ध से उपरत होने पर किसी ने योगी नहीं कहा न उसका यह विषाद कथंचिदपि योग में सहायक बना। भगवद्गीता में उक्त नाम प्रत्येक अध्याय में वर्णित विषयानुसार रखे गये हैं। इनका अभिप्राय उन-उन अध्यायों में वर्णित उन-उन विषयों की सूचना मात्र देना है। यदि ऐसा न मानकर डा० अवस्थी के अनुसार कहें तो पुरुषोत्तमयोग (अ० १५) देवासुर सम्पद् विभाग योग (अ० १७) आदि को भी योग मानना पड़ेगा जो कथमपि व्यवहारिक प्रतीत नहीं होता। अत: यही मानना समीचीन है कि उपर्युक्त ध्यानयोग आदि ६ मार्ग ही योग के अन्तर्गत है गीता के अध्यायों के अन्त की पुष्पिकाएं योग के अन्तर्गत नहीं हैं।

---

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे॥ ईशो० १.१

२. पातं० योग०, एक अध्ययन, पृ० २९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

उपनिषदों में यम-नियमों का वर्णन

पूर्व पृष्ठ १२-१३ में बतला चुके हैं कि किन्हीं उपनिषदों में योग के ६ अंग स्वीकार किए गए हैं तो कुछ उपनिषदों में पातंजल योग के समान अष्टांग योग ही स्वीकार किया गया है। उपनिषदों में इन योगांगों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उपनिषदों के भी मुख्यत: दो वर्ग हैं। ईशोपनिषद् आदि प्रधानभूत एकादश उपनिषद् तथा अन्य उपनिषदें। मोटे तौर पर ये दो भाग इसलिए किये गए हैं कि ईशादि ग्यारह उपनिषदों का प्रमाण प्राय: सभी स्वीकार करते हैं जबकि शेष उपनिषदों की प्रामाणिकता इनके समान नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि ईशादि प्रधान उपनिषदों में यम-नियम आदि का नाम लेकर उस रूप में योगांगों की चर्चा नहीं की गई जैसे कि शेष उपनिषदों में। अन्य उपनिषदों में योगदर्शन के समान ही यमनि-यम आदि सभी योगांगों का नाम लेकर उनकी विस्तृत व्याख्या भी की गयी है। इतना अन्तर अवश्य है कि इनमें से किसी-किसी उपनिषद् में यम-नियमों की संख्या पतंजलि के समान पांच-पांच न मानकर दस-दस मानी गयी है। कहीं-कहीं पर योगदर्शन में कहे हुए यम-नियमों को आपस में मिला दिया गया है तथा यम-नियम एवं अन्य योगांगों की परिभाषाएं योगदर्शन से अलग रूप में दी गयी है। नीचे उपनिषदों में वर्णित योगागों एवं योगदर्शन के योगांगों की तुलना की जाती है—

यम-नियम—योग दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को यम तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान को नियम कहा गया है। उपनिषदों, पुराणों तथा स्मृति आदि ग्रन्थों में भी यम-नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु वहां पर इनका स्वरूप एवं परिभाषा योगदर्शन के समान तथा भिन्न रूप में भी प्राप्त होते हैं। पतंजलि ने स्वयं इनकी कोई परिभाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न देकर इनके द्वारा होने वाले लाभों का वर्णन किया है। व्यासजी ने यम-नियमों के प्रत्येक भेद की परिभाषा की है। मनुस्मृति[1] तथा विष्णु पुराण[2] में यमों की संख्या एवं नाम योगदर्शन के समान ही उपलब्ध होते हैं। योगदर्शन के अपरिग्रह (यम) के स्थान पर मनुस्मृति में अकल्कता रखा गया है। अकल्कता का अर्थ मल अथवा छल आदि का अभाव है। यह एक प्रकार से शौच का ही पर्याय है नियमों में शौच का ग्रहण होने से यमों में अकल्कता का ग्रहण पुनरुक्ति जैसा ही प्रतीत होता है। अपरिग्रह के लिए मनुस्मृति में कुछ नहीं कहा गया है। अर्जन, लक्षण क्षय, संग हिंसा आदि दोषों से युक्त होने के कारण विषयों को ग्रहण न करना व्यास जी ने अपरिग्रह माना है। योगी का लक्ष्य है—विषयों तथा विषयवासनाओं को छोड़कर सर्वथा निर्विषय बन जाना। इसी लिए पतंजलि ने संभवतः यमों में अपरिग्रह की गणना की है। पातंजल योग दर्शन ध्यान योग का ग्रन्थ है, कर्मयोग का नहीं। जबकि मनुस्मृति सभी वर्णाश्रमिकों के लिए बनायी गई है। सांसारिक कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विधान यहां पर किया गया है इसी कारण यहां पर यमों में अपरिग्रह की गणना सम्भव नहीं थी क्योंकि विषयों का स्वीकार तो संसार यात्रा के लिए करना ही पड़ेगा। मनुस्मृति का उद्देश्य इतना ही है कि विषयों का सेवन धर्म पूर्वक हो, अधर्म पूर्वक नहीं जबकि योगदर्शन का उद्देश्य विषयों का बिल्कुल ही त्याग कर देना क्योंकि योगदर्शन ध्यान योग का प्रतिपादक ग्रंथ है, कर्मयोग का नहीं। मनुस्मृति में 'सत्य' के स्थान पर सत्य वचन कहकर भी सत्य का क्षेत्र योग दर्शन की अपेक्षा संकुचित कर दिया। पतंजलि के सत्य का अर्थ व्यासजी ने वाणी तथा मन की सत्यता किया है—सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे (यो. सू २.३० पर व्यास भाष्य) विष्णु पुराण ६.७ ३७ में नियम भी योगदर्शन के समान ही दिए गये हैं जबकि मनुस्मृति में नियमों का स्वरूप बदल गया। वहां पतंजलि प्रणीत नियमों में से केवल शौच का ग्रहण करके शेष चार

---

१. अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमा वै परिकीर्त्तिताः॥ मनु० ४.१११

२. ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयपरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्व मनोनयन्॥
स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः॥ वि० पु० ६.७.३६-३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के स्थान पर अक्रोध, गुरु शुश्रूषा, अप्रमाद तथा आहार लाघव को रखा है।[1] इनमें से प्रमाद की गणना योग के अन्तरायों में की गई है (यो. सू. १.३०)। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो मनुस्मृति में कहे गए नियमों में से अक्रोध को छोड़कर शेष चार उतने महत्त्वपूर्ण अथवा मन की एकाग्रता में उतने सहायक नहीं है जितने कि सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान। पतंजलि प्रोक्त सन्तोष आदि शेष नियमों को मनुस्मृति में अन्य स्थानों पर महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया गया है।

पतंजलि प्रोक्त यम-नियमों पर इस दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है कि अहिंसा आदि पांचों व्यक्तिनिष्ठ न होकर समाजनिष्ठ हैं अर्थात् इनका पालन किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा रखता है जबकि शौच आदि पाचों नियम व्यक्तिनिष्ठ हैं अर्थात् इनका पालन व्यक्ति को स्वयं व्यक्तिगत स्तर पर करना होता है। यहां पर यह भी अवधेय है कि यमों में निषेधात्मकता प्रधान है। ब्रह्मचर्य को छोड़कर शेष चारों यम निषेध परक हैं। हिंसा, असत्य, स्तेय; परिग्रह का अभाव ही क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह कहलाता है। ब्रह्मचर्य विधेयात्मक है। विशेष साधनों के द्वारा इन्द्रिय संयम को ब्रह्मचर्य कहते हैं। इसमें निषेध की अपेक्षा विधेयक्ता = संयम प्रमुख है जबकि शेष चारों यमों में हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह से अपने आपको पृथक् रखना होता है। शौच आदि नियम भी विधेयात्मक ही हैं।

पतंजलि द्वारा प्रतिपादित यम नियमों में एक अन्तर यह भी है अहिंसा आदि यमों को पतंजलि सार्वभौम महाव्रत कह रहे हैं जिनमें कि जाति, देश, काल, समय आदि किसी भी प्रकार से न किये जाने की छूट नहीं है। सार्वभौम का अर्थ है—सर्वासु भूमिषु भवाः। भूमि का अर्थ भोजदेव ने क्षिप्त, मूढ विक्षिप्त, निरुद्ध तथा एकाग्र नामक चित्त की वे भूमियां ली हैं जिनका उल्लेख व्यास भाष्य में योगदर्शन के सर्वप्रथम सूत्र की व्याख्या में किया गया हैं। इसका अभिप्राय है कि क्षिप्त आदि किसी भी अवस्था में इनका परित्याग न करना चाहिए। भोजदेव की यह व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि यह

---

१. अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः॥ मनु० ४.११२

२. अहिंसादयो यमा सर्वासु क्षिप्तादिषु चित्तभूमिषु भवा।
यो० सू० २.३१ पर भोज वृत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूरान्वय है। वहां चित्त की भूमियां बतलायी जा रही हैं जबकि यहां पर ऐसा कोई प्रसंग न होकर सामान्यत: यम-नियमों का उल्लेख किया जा रहा है। दूसरी बात यह है कि वहां पर 'सार्वभौम पद का प्रयोग भाष्यकार कर रहे हैं, सूत्रकार नहीं जबकि यमो के प्रसंग में स्वयं सूत्रकार ने सार्वभौम पद सूत्र में पढ़ा है। अत: भाष्यकार द्वारा उद्धृत किसी शब्द के अनुसार सूत्रोच्चारित शब्दों की व्याख्या नहीं की जा सकती। हां, व्याख्याकार स्वयं व्याख्या करते हुए सूत्रोच्चारित शब्दों का आश्रय ले सकता है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में बिल्कुल उल्टा है। सार्वभौम का अर्थ क्षिप्त आदि भूमियों में होने वाला न मानने में एक सशक्त हेतु यह है कि स्वयं व्यास जी ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त नामक चित्त की भूमियों को तो योग के योग्य भी नहीं माना अत: यह कैसे कहा जा सकता है कि आगे चलकर पतंजलि ने इन अवस्थाओं के लिए ही अहिंसा आदि यमों का विधान किया है। किन्हीं-किन्हीं व्याख्याकारों ने सार्वभौम का अर्थ सात प्रकार की भूमियों में होने वाले महाव्रत माना है।[1] सात भूमियों से इनका अभिप्राय तस्य, सप्तधा प्रान्तभूमि: प्रज्ञा' (यो० सू० २.२७) सूत्र में निर्दिष्ट सात भूमियों से है। यह व्याख्या भी ठीक नहीं है। प्रथम तो वही दूरान्वय दोष यहां पर भी है दूसरे इस सूत्र में तो ऐसे व्यक्ति की सात प्रकार की प्रज्ञा कही गयी है जिसका चित्त अशुद्धि रूपी मन से रहित हो गया है। इसके विपरीत यम-नियम तो योगेच्छुक के लिए प्रथम सीढ़ी है अभी तो उसका चित्त विविध मलों से युक्त है अत: यम-नियम के प्रसंग में उक्त सात प्रकार की प्रज्ञा की संगति कथमपि नहीं लग सकती।

प्रतीत होता है कि सार्वभौम की उक्त दोनों व्याख्याएं व्यासभाष्य को दृष्टि में न रखकर की गयी हैं। सार्वभौम की व्याख्या में व्यास जी लिखते हैं 'सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचारा: सार्वभौमा:' (यो. सू. २.३१) इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं 'जात्यादि लक्षणासु भूमिषु विदिता: सार्वभौमा:' यही व्याख्या समीचीन तथा प्रसंगानुकूल है। जिन जाति आदि का उल्लेख सूत्रकार ने किया है, उन सब अवस्थाओं में भी विद्यमान रहने वाले अहिंसा आदि को सार्वभौम कहा है। अर्थात् इनका त्याग किसी भी अवस्था में उचित नहीं है।

---

१. पातंजल योगदर्शनम्, सम्पा. रुद्रदत्त शर्मा, १९६० पृ० २३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने इस सूत्र की अन्यथा ही व्याख्या की है। यम-नियमों में भेद दिखलाते हुए आप लिखते हैं कि नियमों का सीधा सम्बन्ध योगी से है जबकि अहिंसा आदि व्रतों को न केवल योगी के लिए अपितु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक महाव्रत के रूप में स्वीकार किया जाता है।[1] डा० अवस्थी को यह भ्रान्ति सार्वभौम पद के कारण हुयी है। आपने भी सार्वभौम का अर्थ प्रसंगानुकूल न लेकर लोकप्रचलित अर्थ ले लिया यह उचित नहीं है क्योंकि योगदर्शन मनुस्मृति आदि की तरह जनसामान्य के लिए विधि निषेध का नियामक न होकर योगेच्छु के कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का ही प्रतिपादक है। अतः यही मानना उचित है कि इस सूत्र में भी पतंजलि ने यम-नियमों का विधान योग साधना की दृष्टि से ही किया है न कि नियमों का विधान योगी के लिए तथा यमों का विधान प्रत्येक व्यक्ति के लिए किया है।

इसी प्रसंग में डा० अवस्थी यह भी लिखते हैं कि 'यदि यम और नियमों में अन्यतम के पालन वाली स्थिति हो तो यमों का ही निरन्तर सेवन करना चाहिए, केवल नियमों का नहीं'[2] यहां पर मनुस्मृति के उस श्लोक के कारण यह भ्रान्ति हुयी है जिसमें कहा है कि केवल नियमों का ही सेवन न करें। अपितु नियमों के साथ यमों का भी पालन आवश्यक है।[3] डा० अवस्थी ने इस श्लोक के अर्थ को ही अन्यथा कर दिया। श्लोक में यह नहीं कहा गया कि यम और नियमों में अन्यतम के पालन की स्थिति में यमों का सेवन करें। यहां पर अन्यतम के पालन का प्रश्न ही नहीं है। श्लोक का भाव तो यह है कि यदि अहिंसा आदि यमों का सेवन किए बिना केवल नियमों का पालन व्यक्ति करता रहे तो वह व्यक्ति पतित हो जाता है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि मनुस्मृति के अनुसार नियमों का स्वरूप वही है जो कि योगदर्शन में है। मनुस्मृति में तो अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, आहार लाघव तथा अप्रमाद इनको नियम माना गया है जबकि पतंजलि शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को नियम कहते हैं। दोनों ग्रन्थों के नियमों में पर्याप्त अन्तर है। मनु-

---

१. पातंजल योग शास्त्र, पृ० ९८-९९

२. वही, पृ० १००

३. यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान्भजन्॥ मनु० ४.२०४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मृति के नियम पंतजलि के नियमों की अपेक्षा अति सरल हैं। गुरुशुश्रूषा, आहार लाघव अप्रमाद बहुत कठिन नहीं है। जबकि इनके विपरीत अहिंसा, सत्य आदि यमों का सर्वांश में पालन अत्यन्त कठिन कार्य है। लौकिक व्यवहार में गुरुशुश्रूषा आदि की अपेक्षा सदा सत्य आदि पर दृढ़ रहना अतिकठिन है इसी लिए मनु ने सावधान करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति यमों का पालन छोड़ कर केवल नियमों का पालन करता रहेगा, वह पतित हो जाएगा अर्थात् जीवन में सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि को न अपनाने वाला व्यक्ति पतित हो जायेगा चाहे वह गुरु सेवक भी हो, लघु आहारी हो तथा प्रमादी न हो।

योगदर्शन के प्रसङ्ग में मनु के उक्त श्लोक की प्रासङ्गिकता नहीं है क्यों कि मनुस्मृति में मानवमात्र के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विधान है, जबकि योगदर्शन केवल योगाभ्यासी के लिए है। योगदर्शन में नियमों का स्वरूप ही दूसरा है जो कि मनुस्मृति के नियमों से कठिन एवं भिन्न है तथा साधक को समाधि की दिशा में ले जाने वाला है। अतः मनुस्मृति की उक्त व्यवस्था को योगाभ्यासी के सम्बन्ध में व्याख्यात नहीं किया जा सकता। पतंजलि ने योगाभ्यासी के लिए यम नियम-दोनों का विधान अनिवार्य रूप में किया है। जन सामान्य के लिए यह विधान नहीं है। योग दर्शन के यम-नियम दोनों ही अपना अलग अलग-महत्त्व लिए हुए है अतः एव योगी के लिए दोनों अनिवार्य हैं।

यहां पर प्रश्न हो सकता है कि यदि योगी के लिए यम-नियम दोनों ही अनिवार्य हैं तो पतंजलि ने यमों को ही सार्वभौम महाव्रत क्यों कहा? जब कि नियमों के सम्बन्ध में ऐसा कुछ नहीं कहा गया। इसका समाधान यह है कि अष्टांग योग के नियम भी यद्यपि पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एवं कठिन हैं तथापि उनमें अवस्था देश, कालानुसार व्यवधान सम्भव है, जबकि यमों में ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ रुग्ण हो जाने पर अथवा जलादि के अभाव में बाह्य पवित्रता में बाधा पड़ सकती है। इसी प्रकार तप तथा स्वाध्याय में भी व्यवधान आ सकता है। इनकी मात्रा भी कम या अधिक हो सकती है इस के विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पांचों तो योगी को सर्वांश में सर्वदा अनिवार्य रूप में सेवनीय है। न तो इनकी मात्रा में न्यूनता आ सकती है न अन्य किसी प्रकार से इनको छोड़ देने की छूट है। यह संभव नहीं है कि थोड़ी-सी हिंसा कर ली जाए अथवा थोड़ा सा असत्य योगी बोल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ले अथवा रुग्णता आदि की अवस्था में योगी यम पालन में प्रमाद करले अथवा किसी विशेष प्रयोजन से यथा अपने ऊपर आक्रमण आदि होने की स्थिति में, किसी लोभ आदि के कारण अथवा किसी भी जाति, देश, काल, समय से प्रभावित होकर योगी अहिंसा आदि यमों के पालन में शैथिल्य दिखलाए कि वा इनका उल्लङ्घन कर दे, ऐसा सम्भव नहीं है। ये यम तो सर्वांश में सर्वदा पालनीय हैं इसीलिए पतंजलि ने इनको सार्वभौम महाव्रत कहा है। यह योगी की दृष्टि से ही कहा है जन सामान्य के लिए नहीं क्योंकि लौकिक व्यवहार में इनका सर्वांश में सर्वदा पालन असम्भव है। स्वयं मनुस्मृति एवं वेद भी दुष्टों को मारने एवं दण्ड देने की आज्ञा देते हैं। लौकिक व्यवहार में ऐसी हिंसा करनी पड़ती है जबकि योगी इससे भी मुक्त है इसी प्रकार लौकिक व्यवहार में अपरिग्रह का पूर्ण पालन नहीं हो सकता जबकि योगी के लिए यह अनिवार्य शर्त है। उसे विषयों से सर्वथा विमुख होना है लौकिक जीवन में ऐसा सम्भव नहीं।

अहिंसा आदि पांचों यमों की विपरीत वृत्ति क्रमशः हिंसा, असत्य, स्तेय; अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह है। पतंजलि इनको वितर्क कहते हैं। उनके अनुसार हिंसा आदि वितर्कों के मूल में लोभ, क्रोध तथा मोह रहते हैं। वस्तुतः ये तीनों ही अन्य सभी अनर्थों की जड़ है। इनके वशीभूत होकर ही व्यक्ति नाना प्रकार के अधर्म करता है। पतंजलि योगाभ्यासी के लिए इन सभी का निषेध करते हैं अन्यथा उसका योग सिद्ध नहीं होगा।

इससे उन व्यक्तियों का सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है जो कि योगाभ्यास में आचार शास्त्र पर बल नहीं देते। आजकल ऐसे अनेक तथाकथित योग-प्रचारक अथवा साधक विद्यमान हैं जो कहते हैं कि योगाभ्यास करने में मद्य-मांस आदि का खान-पान तथा ब्रह्मचर्य बाधक नहीं बनता। ऐसे लोग इन बातों की उपेक्षा करके केवल ध्यान पर बल देते हैं। अपने को योगी कहने वाले अनेक व्यक्तियों का ध्यान इसी प्रकार का है। ध्यान रहे कि योग तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि व्यक्ति यम-नियमों को न अपना ले, पतंजलि का अभिमत तो यही है। भगवद्गीता १७.१४-१६ में शारीरिक मानसिक तथा वाचिक रूप में तप का विस्तार करते हुए उक्त यम-नियमों का समावेश तप में ही कर लिया है।

उपनिषदों में यम-नियम आदि की चर्चा योगदर्शन से कुछ अन्य रूप में उपलब्ध होती है। कई उपनिषदों में पांच-पांच के स्थान पर दस-दस यम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियम माने गए हैं तथा योगदर्शन में परिगणित नियमों को भी यमों के अन्दर समाविष्ट कर दिया गया है। यथा—शाण्डिल्योपनिषद् १.१ जाबालदर्शनोपनिषद् १.६ तथा त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् श्लोक ३३ में समान रूप में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आजर्व, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच इनकी गणना यमों के अन्तर्गत की है।[1] इन तीनों उपनिषदों में नियमों के अन्तर्गत तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा व्रत इन दस की गणना की गई है। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में देह तथा इन्द्रियों में वैराग्य भावना को यम[2] तथा परतत्त्व=परमेश्वर में अनुरक्ति को नियम[3] कहा गया है। नारद परिव्राजकोपनिषद् ४.१०-१२ में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनौद्धत्य, अदीनत्व, प्रसाद, स्थैर्य, आर्जव, अस्नेह, गुरुशुश्रूषा, श्रद्धा, क्षान्ति, दम, शम, उपेक्षा, धैर्य, माधुर्य, तितिक्षा, करुणा, ह्री ज्ञान, विज्ञान, योग, लघु आहार तथा घृति इनकी गणना स्वधर्म कहकर की है। यहां पर यम-नियम का नाम इनको नहीं दिया गया। तेजोबिन्दु उपनिषद् में यम-नियम के पृथक्-पृथक् भेद परिगणित न करके यम के विषय में कहा है कि ज्ञानेन्द्रियों का संयम करते हुए 'सर्वं वै ब्रह्म' की भावना करना यम है[4] तथा नियम से किये जाने वाले परानन्द को नियम कहते हैं।[5]

इन उपनिषदों में कहे गए उक्त यम-नियमों को देखने से एक बात स्पष्ट होती है कि इनमें नारद परिव्राजकोपनिषद् को छोड़कर अन्य उपनिषदों ने अपरिग्रह की गणना यमों के अन्तर्गत नहीं की है। वाचिक तथा मानसिक रूप से इनमें जप के दो प्रकार कहे गए हैं।

इन उपनिषदों में कहे गए यम-नियमों को देखने से यह भी स्पष्ट होता है कि इन उपनिषदों ने योगदर्शन में कहे गए नियमों को अपने नियमों में समा-

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिमिताहारशौचं चैव यमा दशाः॥
२. देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम उच्यते वुधैः। त्रिशिखब्राह्मणो० श्लो० २८
३. अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः। वही, श्लोक २९
४. सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥ तेजोविन्दु० १.१७
५. नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः। वही, १.१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विष्ट करते हुए कुछ अन्य ऐसे गुणों को भी नियम नाम दे दिया जो कि व्यक्ति को आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की ओर ले जाने वाले हैं। दान तथा आस्तिक्त आदि इसी प्रकार के गुण हैं। शौच, सन्तोष, जप तथा तप का उल्लेख सभी उपनिषदों ने समान रूप में किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि उपनिषदों में शौच की गणना यमों के अन्तर्गत की गई है तो योग दर्शन में नियमों के अन्तर्गत। व्यास भाष्य में पतंजलि के स्वाध्याय का अर्थ मोक्ष सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन तथा ओंकार आदि पवित्र मन्त्रों का जप करना माना है इन उपनिषदों में स्वाध्याय को सर्वथा छोड़कर जप का उल्लेख नियमों के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से कर दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन उपनिषदों में योगदर्शन में कहे गए सभी यम-नियमों को समाहित करते हुए आध्यात्मिकता, नैतिकता सम्बन्धी अन्य आवश्यक नियमों का समावेश भी कर दिया गया। ऐसा सम्भव भी था क्योंकि ये यम-नियम शुद्धाचरण सम्बन्धी है। स्वयं योगदर्शन में इनकी गणना बहिरंग अंगों में की है। अतः अपनी-अपनी दृष्टि से इन उपनिषदों में इनका विस्तार कर दिया।

प्रधान उपनिषदें तथा यम-नियम—ईशोपनिषद् आदि प्रधान उपनिषदों में यद्यपि यम-नियमों का नाम लेकर अथवा योगांगों के रूप में उनका उल्लेख नहीं किया गया किन्तु इन उपनिषदों में सत्य, ब्रह्मचर्य, तपस्या पर तो बहुत ही बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त शौच, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, प्रत्याहार आदि अन्य योगांगों के बीज भी इन उपनिषदों में पाये जाते हैं। यथा—

यमों का वर्णन

अहिंसा—व्यासजी के अनुसार सभी प्राणियों से सर्वदा तथा सर्वथा द्रोह भावना न रखना ही अहिंसा है। इस प्रकार अहिंसा का क्षेत्र अति विस्तृत कर दिया गया। इसीलिए व्यासजी कहते हैं कि अन्य सत्य आदि यमों के मूल में अहिंसा ही है। अहिंसा की सिद्धि के लिए ही दूसरे यम-नियम हैं।[1]

कायिक, वाचिक तथा मानसिक तीनों ही प्रकार की अहिंसा यहां पर अपेक्षित है। अहिंसा को यम-नियमों में सर्वप्रधान इसलिए बतलाया गया है

---

१. तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते—यो० सू० २.२९ पर व्यास भाष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि इसमें सभी प्राणियों के साथ अनभिद्रोह की बात निहित है। सत्य-अस्तेय आदि अन्य यमों का भी यही उद्देश्य है कि उनसे किसी भी प्राणी को कष्ट न होकर उनका उपकार ही हो।[1] यहां पर अन्य प्राणी को कष्ट न देना ही मुख्य है। असत्य तथा स्तेय आदि से भी अन्य प्राणियों को कष्ट होता है तथा इनके त्याग से सुख पहुंचता है इसीलिए सत्य, अस्तेय आदि का मूल अहिंसा कही गई है। इस अहिंसा के भी आगे चलकर ८१ भेद माने गए हैं।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए व्यास जी इसे भोक्तृगत फल पर निर्भर न मानकर कर्त्ता की भावना से सम्बन्धित मानते हैं जबकि भोजदेव उसी कर्म को हिंसा मानते हैं जो कि किसी के प्राणों का शरीर से वियोग करने के उद्देश्य से किया जाए। ऐसा कर्म जो कि किसी के प्राण हरण के प्रयोजन से किया जा रहा है, चाहे उससे प्राणवियोग सम्पन्न हुआ हो या नहीं, भोज के मत में हिंसा है जबकि व्यासजी अद्रोह पर बल देते हैं अर्थात् यदि द्रोह बुद्धि से कोई कार्य किया जा रहा है, भले ही उसके पीछे प्राणहरण अथवा अन्य प्रकार के शारीरिक उत्पीडन की इच्छा न हो, तो व्यासजी इसे भी हिंसा ही मानते हैं इस प्रकार अहिंसा की व्यास एवं भोज की व्याख्या में अन्तर है। यहां पर व्यासजी का विचार ही सूत्रकार के अधिक निकट है क्योंकि योगदर्शन का उद्देश्य मन को विकारों से सर्वथा शुद्ध करना है यह तभी सम्भव है जबकि मन से द्रोह आदि की सभी भावनाओं को निकाल दिया जाए।

व्यासजी अहिंसा तथा अन्य यमों का क्षेत्र अति विस्तृत करते हुए हिंसा आदि वितर्कों के तीन प्रकार बतलाते हैं—(१) स्वयं किए गए (२) दूसरों से कराए गए तथा (३) अनुमोदित। व्यासजी के मत में इन सभी प्रकारों से हिंसा होती है। व्यासजी को यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ा क्योंकि कुछ व्यक्तियों को यह भ्रान्ति रहती है कि यदि वे स्वयं किसी का वध नहीं करेंगे तो उनको पाप नहीं लगेगा। यह धारणा सामान्य व्यक्तियों में ही नहीं अपितु साधकों में भी देखी जाती है। उदाहरणार्थ बौद्ध भिक्षु स्वयं तो हिंसा नहीं करते किन्तु भिक्षा में मिला माँस खा सकते हैं। इसके पीछे उनका यही

---

१. एषा (वाक्) सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्।
योगसूत्र = यो० सू० २.३० पर व्या० भा०

२. तत्र प्राणवियोगप्रयोजनपरो हिंसा। यो० सू० ७.३० पर भोजवृत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्क है कि उन्होंने मांस के लिए स्वयं किसी प्राणी की हत्या नहीं की है। मनुस्मृति में इन सभी को हिंसा के अन्दर गिनते हुए मारने वाला, अनुमति देने वाला, समर्थन करने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला तथा खाने वाला इन सभी को हिंसक माना है।[१] भाव यह है कि हिंसा में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में सहायक बनने वाले को मनु हिंसक मानते हैं। पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट हिंसा की अपेक्षा मनुस्मृति की हिंसा का क्षेत्र अति विस्तृत प्रतीत होता है किन्तु पतंजलि के कृत, कारित तथा अनुमोदित भेदों में ही मनुस्मृति में निर्दिष्ट हिंसा के उक्त प्रकारों का समावेश हो जाता है क्योंकि योगाभ्यासी मनुष्य यदि स्वयं हिंसा न करके, न किसी से कराकर अथवा अनुमोदन भी न करके माँस को खरीदकर तथा पकाकर खाता है अथवा विना खरीदे भिक्षा आदि में मिलने पर खाता है तो एक प्रकार से अप्रत्यक्ष रूप में उसका यह कर्म हिंसा का अनुमोदन ही होगा क्योंकि जिन स्रोतों से वह माँस को प्राप्त कर रहा है, उनके मांस भक्षण से वे स्रोत दृढ़ होंगे अर्थात् उन स्रोतों को अभ्यासी को मांस देने के लिए हिंसा करनी पड़ेगी क्योंकि बिना हिंसा किए माँस प्राप्त नहीं होगा।[२] अतः पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट कृत, कारित तथा अनुमोदित हिंसा का क्षेत्र भी अतिव्यापक हैं।

ईशादि उपनिषदों में अहिंसा का पृथक् रूप में अधिक उल्लेख नहीं किया गया है तथापि उपनिषद् में एक कथा प्राप्त होती है कि प्रजापति ने 'द' अक्षर के द्वारा ही देवों-मनुष्यों तथा असुरों को क्रमशः इन्द्रियदमन, दान तथा दया का उपदेश दिया। असुर ही हिंसारत रहते थे। प्रजापति के उपदेश से उन्होंने भी हिंसा को छोड़ दिया। देव तथा मनुष्य तो पहले से ही हिंसा के पृथक् थे। यह कथा उपनिषदों की अहिंसावृत्ति को ही द्योतित करता है। ईशादि से भिन्न अन्य उपनिषदों में योगदर्शन के समान ही अहिंसा शेष यमों की अपेक्षा महत्वपूर्ण बतलाया है।[3] इनमें कहीं-कहीं पर अहिंसा की ऐसी परिभाषा दी गयी है जो कि योग दर्शन के अनुकूल नहीं है। यथा—जावालदर्शनोपनिषद् में कहा

---

१. अनुमन्ता विशस्ता च विहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ (मनु० ५.१५)

२. नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्—वही, ५.१२

३. अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या भवति नापरे। दत्तात्रेय योगशास्त्र, श्लो० ६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है कि वेदोक्त हिंसा को छोड़कर कायिक, वाचिक तथा मानसिक इन तीन प्रकार वाली हिंसा होती है।[१] विदित होता है कि यह उपनिषद् उस समय लिखी गई जबकि यज्ञ आदि में हिंसा का प्रचार हो चुका था तथा उसे वेदविहित माना जाता था। ऐसे समय में ही 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' आदि उक्तियां प्रकाश में आयीं। इसका प्रभाव ही जाबालदर्शनोपनिषद् में अहिंसा की उक्त परिभाषा में परिलक्षित होता है।

प्रतीत यह होता है कि बहुत पहले ही यह धारणा दृढीभूत हो चुकी थी कि वेद द्वारा निर्दिष्ट हिंसा को हिंसा नहीं माना जाना चाहिए यही कारण है कि ईश्वर कृष्ण ने वेदविहित (आनुश्रविक) मार्ग को अविशुद्धि से युक्त कह दिया।[२] यहाँ पर अविशुद्धि का अर्थ हिंसादि दोषों से युक्त होना ही है। वैसे इन लोगों का भी दोष नहीं था क्योंकि भ्रमवश अनेक वेदमन्त्रों के अर्थ ही ऐसे कर दिए गये थे जिनसे कि हिंसा की सिद्धि होती थी। यह सब कुछ वेद मन्त्रों का अनर्थ था जो कि भाष्यकारों के अज्ञानवश किया गया। इसीलिए महात्मा बुद्ध ने ऐसे वेदों को ही मानने से ही इन्कार कर दिया जो कि हिंसा के प्रतिपादक हों। महात्मा बुद्ध वेदों के भाष्यकार नहीं थे इसीलिए उन्होंने ऐसा कहा। वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द ने वेदों का शुद्ध अर्थ करके वेदों के ऊपर लगाए गए हिंसा आदि अनेक आक्षेपों को दूर कर दिया।

सत्य—द्वितीय योगांग सत्य का अर्थ व्यासजी ने 'यथार्थे वाङ्मनसे किया है। जैसा देखा है, जैसा अनुमान किया है तथा देखे हुए के अनुसार ही अपने मन तथा वाणी को रखना सत्य कहलाता है। व्यास जी के अनुसार वक्ता के द्वारा कही गयी वाणी यदि वञ्चना छल, भ्रान्ति तथा प्रतिपत्तिबन्धत्व से रहित होगी तभी सत्य कहलायेगी, अन्यथा नहीं। इसमें व्यास जी एक शर्त और जोड़ते हैं कि उक्त दोषों से रहित वाणी भी यदि प्राणियों के विघात के लिए प्रयुक्त होगी तो तब भी वह सत्य नहीं मानी जायेगी। ऐसी वाणी ही सत्य कहलायेगी जो उक्त दोषों से रहित होने के साथ प्राणियों की उपकारक भी हो। इस प्रकार व्यासजी के अनुसार सत्य के मूल में भी प्राणियों के उपकार

---

१. वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधनः।
कायेन मनसा वाचा हिंसाऽहिंसा च नान्यथा॥ जाबाल दर्शनो० १.७

२. दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। सां० का० १.२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भावना ही प्रमुख है। सत्य का विषय अत्यन्त सूक्ष्म विचार की अपेक्षा रखता है। उदाहरणार्थ एक योगसाधक से यदि एक वधिक पूछता है। कि तुमने हरिण यहां से जाते देखा है या नहीं। साधक ने हरिण सचमुच देखा है किन्तु यदि वह इसे ही सत्य समझकर वधिक को हां कह देता है तो वधिक उसी रास्ते से जाकर हरिण का वध कर देगा ऐसी अवस्था में साधक को सत्य बोलना चाहिए था या नहीं ? व्यासजी के अनुसार इसे सत्य नहीं कहेंगे क्योंकि ऐसा बोलने से हरिण का वध हो रहा है। तो क्या फिर साधक मिथ्या ही कह दे कि यहां से हरिण नहीं गया है ? व्यासजी ऐसा कहने की छूट भी नहीं देते ? तो क्या फिर साधक मौन ही रह जाए ? इसका स्पष्टीकरण व्यासभाष्य में नहीं किया गया है। इससे जुड़ा ही एक अन्य प्रश्न यह भी है कि यदि प्राणियों के उपकार की भावना से युक्त अभ्रान्त, अवञ्चक तथा प्रतिपत्ति की योग्यता से युक्त वाणी ही सत्य मानी जाएगी तो एक मां बच्चे को चीनी खाने से यह कहकर डराती है कि इससे पेट में कीड़े हो जायेंगे। एक प्रकार से यह मिथ्या भाषण प्रतीत होता है किन्तु बच्चे के उपकार की भावना से युक्त होने के कारण इसे सत्य क्यों न माना जाए।

इसी प्रकार एक अन्य विवेच्य स्थल है। भ्रान्त वाणी की व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने दो प्रकार से की है—(१) वक्ता के कथन में ही भ्रान्ति हो। (२) ज्ञेय अर्थ के अवधारण में श्रोता को भ्रान्ति हो। इन दोनों अवस्थाओं में उसे सत्य नहीं कहेंगे। यहां पर विचारणीय है कि यह तो ठीक है कि वक्ता का कथन भ्रान्ति युक्त होने के कारण सत्य न कहलाया जा सके किन्तु यदि वक्ता ने शुद्ध भाव से वाक्य कहा है पुनरपि श्रोता को उसका अर्थ समझने में भ्रान्ति हो गयी तो इसमें वक्ता का क्या दोष ? वक्ता के इस प्रकार के कथन को सत्य क्यों न माना जाना चाहिए। इसी प्रकार प्रतिपत्तिबन्ध्य के विषय में भी है। वाचस्पति मिश्र इसका उदाहरण देते हैं कि जैसे आर्यों के प्रति म्लेच्छ भाषा में प्रतिपत्तिवन्धत्व है अर्थात् म्लेच्छों की भाषा से आर्यों को किसी अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी तो व्यास जी के अनुसार प्रतिपत्तिवन्ध्यत्व से युक्त होने के कारण म्लेच्छों की वाणी को सत्य नहीं कहेंगे। यहाँ पर भी वही प्रश्न है कि यदि म्लेच्छ भाषा से आर्यों को किसी अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता तो इसमें म्लेच्छों का क्या दोष है ? ऐसी वाणी को असत्य क्यों माना जाए।

उपनिषदों में भी सत्य पर बहुत बल दिया गया है। मुण्डकोपनिषद् २.१.४ तथा ३.१.५ में सत्य को ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में प्रमुख माना गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी उपनिषद् में एक अन्य स्थान पर तो यहां तक कह दिया गया कि सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य के द्वारा ही देवयान पथ विस्तृत है तथा ऋषियों की समस्त साधना का आधार सत्य ही है।[1] तैतिरीयोपनिषद् में समावर्तन संस्कार के समय स्नातक को आचार्य किसी भी अवस्था में सत्य की उपेक्षा न करके सर्वदा सत्य बोलने का उपदेश देता है।[2] इसी प्रकार छात्र तथा अध्यापकों के लिए विद्याध्ययन काल के प्रारम्भ में बोला जाने वाला उपदेश है ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। छान्दोग्य उपनिषद् में उपलब्ध कथा के अनुसार सत्य बोलने के कारण ही सत्यकाम को ऋषि ने यह नाम दिया था। बृहदारण्यकोपनिषद् में सत्य को ही धर्म माना गया है।[3]

ब्रह्मचर्य—पतंजलि द्वारा परिगणित चतुर्थ यम – ब्रह्मचर्य का अर्थ व्यास जी गुप्तेन्द्रिय संयम करते हैं जबकि योग कारिका दक्षस्मृति आदि कुछ ग्रन्थों में अष्टविध मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है। ये अष्टविध मैथुन इस प्रकार हैं—कामनापूर्ण मन से कामिनी का स्मरण करना, कामिनी के सौन्दर्य आदि का रागात्मक वर्णन, उसके साथ एकान्त में क्रीडा, उसे रागात्मक दृष्टि से देखना, उसके साथ एकान्त में विषयालाप, उसकी प्राप्ति का संकल्प, प्राप्ति के लिए प्रयत्न तथा क्रियानिष्पति। ऊपर से देखने में इन अष्टविध मैथुनों का क्षेत्र अति विस्तृत प्रतीत होता है जवकि इनकी अपेक्षा व्यास जी के अनुसार गुप्तेन्द्रिय संयम का क्षेत्र सीमित प्रतीत होता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। व्यासजी की परिभाषा उन अष्टविध मैथुनों के त्याग को अपने अन्दर समाहित किये हुए है। यदि व्यक्ति रागात्मक मन से इन अष्टविध में से किसी भी प्रकार के मैथुन में प्रसक्त होगा तो वह अपनी गुप्तेन्द्रिय का संयम कर ही नहीं सकता इनको सर्वथा छोड़कर ही इन्द्रिय संयम सम्भव है। इसके अतिरिक्त इन अष्टविध मैथुनों में कर्त्ता को कामिनी आदि अन्य का आश्रय लेना पड़ता है जबकि कामिनी आदि के बिना भी विषयी व्यक्ति अपनी गुप्तेन्द्रिय के संयम को भंग

---

१. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयोह्याप्तकामाः यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
—मुण्डको० ३.१.६

२. सत्यं वद। सत्यान्न प्रमदितव्यम् (तैतिरीयो० १.१०.१)

३. यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति।
बृहदा० १.४.१.४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकता है–व्यासजी के अनुसार वह भी अब्रह्मचर्य है जबकि उक्त अष्टविध मैथुन में यह समाहित नहीं होता। इस प्रकार अष्टविध मैथुन त्याग की अपेक्षा गुप्तेन्द्रिय संयम ही ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट परिभाषा है।

उपनिषदों में ब्रह्मचर्य को आत्मदर्शन के लिए आवश्यक माना गया है अनेक स्थानों पर उपनिषदों में तप, सत्य, श्रद्धा ब्रह्मचर्य चारों का उल्लेख एक साथ किया गया है। मुण्डको०[१] २.१.७, ३.१.५ प्रश्नो० १.१०, ५.३[२] आदि अनेक स्थानों में ऐसा पाया जाता है। प्रश्नोपनिषद् में तो पिप्पलाद ऋषि प्रश्न पूछने के लिए आए भारद्वाज आदि छः ऋषियों को एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य तथा तपस्या पूर्वक रहने की आज्ञा देते हैं।[3] इस साहचर्य से ऐसा ध्वनित होता है कि तप, सत्य तथा ब्रह्मचर्य का साथ-साथ पालन श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। योगदर्शन में भी श्रद्धा को महत्त्व दिया गया है। यो० सू० १.२० में वर्णित श्रद्धा की व्याख्या में व्यासजी इसे चित्त का सम्प्रसाद बतलाते हुए कहते हैं कि माता के समान ही यह श्रद्धा योगी की रक्षा करती है तथा अन्ततोगत्वा असम्प्रज्ञात समाधि में सहायक बनती है।[४] छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति बतलायी गई है।[५] इस प्रसंग में यहाँ पर अनेक बार ब्रह्मचर्य का उल्लेख किया गया है इसी प्रकार कठोपनिषद् मेंभी कहा गया है कि ब्रह्मप्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाता है।[६]

अपरिग्रह—पंचम नियम अपरिग्रह है। परिग्रह का अर्थ है–परितो ग्रहः। अर्थात् चारों ओर से भोग साधनों का ग्रहण करना। न परिग्रहः अपरिग्रहः। परिग्रह के विपरीत अपरिग्रह है अर्थात् भोग साधनों का ग्रहण न करना। भोग साधनों के त्याग में व्यासजी सशक्त हेतु देते हैं कि अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग,

---

१. तपश्च श्रद्धां सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च। मुण्डको० २.१.७

२. तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति। प्रश्नो० ५.३

३. तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। प्रश्नो० १.१

४. सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति—तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्या-दसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति। यो० सू० १०२ पर व्या० भा०

५. तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति। छान्दो० ८.३.३

६. यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति०। कठो० १.१.१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंसा आदि दोषों के कारण विषयों को स्वीकार नहीं करना चाहिए ।[1] विषय अथवा विषय भोग की सामग्री को प्राप्त करने तथा प्राप्त की रक्षा करने में तो अनेक विध कष्ट होते ही हैं साथ ही उनके नष्ट होने से भी शरीर तथा मन को अपार कष्ट होता है । इसी प्रकार विषयों के सेवन करते रहने से विषयों में आसक्ति बढ़ती जाती है तथा इन्द्रियां चंचल हो जाती हैं । यह संगदोष है। विषयों को प्राप्त करने में शारीरिक वाचिक अथवा मानसिक किसी न किसी रूप में प्राणी हिंसा भी हो जाती है । अतः विषयों का स्वीकार न करना (अपरिग्रह) ही श्रेष्ठ है ।

उपनिषदों में साक्षात् अपरिग्रह नाम से तो कुछ नहीं कहा अपितु उपनिषदों की शिक्षा अवश्य ही अपरिग्रह वृत्ति को दृढ़ करती है । यथा कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता के समक्ष संसार के सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का प्रलोभन उपस्थित करते हैं किन्तु नचिकेता यह कहकर इनका तिरस्कार कर देता है—तवैव वाहास्तव नृत्यगीते । यमाचार्य ? मुझे इन विषयों में से कुछ नहीं चाहिए, ये सब तुम्हें मुबारक हों । इनके त्याग में नचिकेता जो हेतु प्रस्तुत करता है वे योग भावना से ही अनुप्राणित हैं । वह कहता है[2]—

(१)—ये सभी प्रकार के भोग अनित्य हैं, नष्ट हो जायेंगे । यह क्षय दोष है ।

(२) ये भोग इन्द्रियों के तेज को नष्ट न कर देते हैं । यह संगदोष है ।

(३) मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता ।

इस प्रकार विषयों में विविध दोषों को देखकर नचिकेता उनका त्यागकर देता है । यह अपरिग्रह वृत्ति का ही फल है । इसी प्रकार की कथा बृहदारण्यक उपनिषद् में भी प्राप्त होती है कि जब याज्ञवलक्य परिव्राजक वृत्ति को धारण करते समय कात्यायनी तथा मैत्रेयी के मध्य अपनी सम्पत्ति को बांटने की बात कहते हैं, तब मैत्रेयी पूछती है—क्या मैं समस्त पृथिवी के धन से अमरपद को प्राप्त कर सकूंगी ? याज्ञवल्क्य उसे स्पष्ट सा उत्तर दे देते हैं कि धन सम्पत्ति

---

१. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः ।
योo सूo २.३०

२. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।। कठो० १.१.२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अमृतत्व की प्राप्ति की बात तो दूर उसकी आशा भी नहीं की जा सकती।[१] अपरिग्रहवृत्ति का कितना जीवित उदाहरण है यह ?

नियमों का वर्णन

शौच—अष्टांग योग में सर्वप्रथम नियम शौच है। शौच का अर्थ है पवित्रता। स्नान आदि के द्वारा केवल बाह्य पवित्रता ही यहां अपेक्षित नहीं है अपितु आन्तरिक पवित्रता भी आवश्यक है। इसीलिए व्यासजी ने मिट्टी, जल आदि के द्वारा तथा पवित्र आहार के द्वारा बाह्य शुद्धि तथा चित्तमलों के नाश के द्वारा आन्तरिक शुद्धि मानी है।[२] यहां पर व्यासजी खानपान की पवित्रता को भी शौच के लिए आवश्यक कह रहे हैं इससे यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि योगाभ्यास के लिए मद्य माँसादि पदार्थ बाधक नहीं है।

उपनिषदों में भी आचारण की पवित्रता पर बल दिया गया है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर तपस्या, सत्य आदि का विधान आन्तरिक मलों को दूर करने के लिए ही किया गया है। कठोपनिषद् में तो स्पष्ट रूप में कहा गया है कि जो व्यक्ति सदैव पवित्र रहता है, वही ब्रह्म पद को प्राप्त कर सकता है।[3] शौच भी कायिक, वाचिक तथा मानसिक रूप में तीन प्रकार का हो सकता है। मनुस्मृति में क्षमा, दान, जप, तप, जल, सत्य, विद्या तथा ज्ञान इन सबको शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की शुद्धि करने वाला कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार विद्वान् व्यक्ति क्षमा से, कुकर्मी दान से, गुप्त पाप वाले जप से तथा वेदवेक्ता तपस्या से शुद्ध होते हैं।[४] जल से केवल शरीर की शुद्धि होती है, मन सत्य से शुद्ध होता है, आत्मा विद्या तथा तप से एवं बुद्धि ज्ञान से शुद्ध

---

१. यन्नु म इयं भगोः सर्वापृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यांन्वहं तेनामृताऽऽहो नेति, नेति होवाच याज्ञवलक्यो'''अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति।
वृहदा० ४.६.३

२. तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्वहरणादि च वाह्यम्। आभ्यन्तरञ्चित मलानामाक्षलनम्। यो० सू० २.३२ पर व्यास भाष्य

३. यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुद्धिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।। कठो० ३.८

१. क्षान्त्या शुद्धयन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ।। मनु० ५.३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है ।[१] इन सभी का उपदेश उपनिषदों में स्थान-स्थान पर किया गया है। यह इसी उद्देश्य से है कि मनुष्य शरीर तथा मन दोनों प्रकार से पवित्र रहे ।

सन्तोष—योगांगों में द्वितीय नियम सन्तोष है । व्यासजी के अनुसार संतोष का अर्थ है—उपलब्ध साधनों से अधिक की प्राप्ति की कामना न करना ।[२] सन्तोष चित्त की एकाग्रता का उत्तम साधन है । असन्तोषी व्यक्ति मन एवं शरीर से सदैव अतृप्त, दुःखी, तथा अशान्त रहता है । ईशोपनिषद् में जो कि यजुर्वेद का ही भाग है, इसीलिए उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को त्यागपूर्वक ही उपभोग करना चाहिए अथवा परमेश्वर के द्वारा प्रदत्त भोगों का ही सन्तोष पूर्वक उपभोग करना चाहिए । यह एक प्रकार से सन्तोषवृत्ति धारण करने का ही उपदेश है । यहां पर स्पष्ट रूप में लालच न करने की बात कही गई है ।[3] लालची व्यक्ति कभी भी सन्तोष धारण नहीं कर सकता । उसकी लालचवृत्ति उसे सदैव असन्तोषी बनाए रखेगी ।

तप—पतंजलि ने तप का निर्देश दो बार किया है । नियमों के अन्तर्गत तृतीय स्थान पर सू० २.४३ में तप का लाभ बतलाते हुए तथा क्रियायोग के अंग रूप में ।[४] नियमों के अन्तर्गत निर्दिष्ट तप का अर्थ व्यासजी ने द्वन्द्वों का सहन करना बतलाया है । द्वन्द्वों का परिगणन स्वयं उन्होंने भूख, प्यास, शीत, उष्ण, स्थान, आसन, काष्ठमौन तथा आकार मौन किया है । यहां पर विशेष ध्यातव्य है कि उक्त भूख प्यास आदि का सहन उतनी ही मात्रा में किया जाए जिससे शरीर तथा मन अति कष्ट को प्राप्त न कर सकें इसीलिए क्रियायोग की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि तप ऐसा होना चाहिए जिससे चित्त प्रसन्न हो तथा जिसका सेवक निर्बाध रूप से किया जा सके ।[५] इस परिभाषा से तप के उन प्रकारों का सर्वथा निषेध हो जाता है जिसके द्वारा निरन्तर

---

१. अद्भिर्गात्राणि शुद्धध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।। वही, ५.३१

२. सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा ।
यो० सू० २.३२ पर व्यास भाष्य

३. तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृध, कस्यस्विद्धनम् । ईशो १.१

४. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । यो० सू० २.१

५. तच्च चित्तप्रसादमवाधमानमनेनासेव्यम् । यो० सू० २.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महीनों तक खड़े रहकर, बिल्कुल भूखा प्यासा रहकर, अग्नि तथा सूर्य की गर्मी से शरीर को तपाकर शरीर को कष्ट दिया जाता है। व्यासजी ने द्वन्द्वों को सहन करने के लिए कहा है, शरीर को अत्यधिक कष्ट देने के लिए नहीं। व्यासजी तप को योग के लिए अत्यावश्यक मानते हुए कहते हैं कि अतपस्वी व्यक्ति का योग सिद्ध ही नहीं हो सकता क्योंकि अनादि कर्म तथा अविद्या आदि से उत्पन्न अशुद्धि तप के विना दूर नहीं हो सकती।[1] गीता के अनुसार शारीरिक वाचिक तथा मानसिक रूप में तप तीन प्रकार का है। गीताकार ने अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, शौच, स्वाध्याय आदि सभी यम-नियमों को तप में समाविष्ट कर लिया है। स्पष्ट है कि यह योगदर्शन के तप से भिन्न है।

उपनिषदों में भी तप को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रश्नोपनिषद् में आत्म दर्शन के साधनों में तपस्या को भी गिनाया गया है। मुण्डकोपनिषद् १.१.६, २.१.७ आदि कई स्थानों पर तप का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में अनेक बार तप का उल्लेख करते हुए तप के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति बतलाई है तथा तप को साक्षात् ब्रह्म बतलाया गया है। इन उपनिषदों में तप की कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। जाबालदर्शनोपनिषद् २.३ में कहा गया है कि वेदोक्त प्रकार से कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर सुखाने को तप कहते हैं। यहांपर यह उल्लेखनीय है कि वेदों में कहीं पर भी न तो कृच्छ्र चान्द्रायण आदि का वर्णन है तथा न कहीं शरीर को व्यर्थ में सुखा देने का विधान है। मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय में अवश्य ही प्रजापत्य, कृच्छ्र तथा चान्द्रायण आदि व्रतों का विधान प्रायश्चित रूप में किया गया है। योगसूत्रों में कहीं पर भी इन व्रतों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यो० सू० २.३२ की व्याख्या में व्यास जी ने भूख प्यास, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों के व्रत के रूप में कृच्छ्र, चान्द्रायण तथा सान्तपन आदि व्रतों का उल्लेख किया है। जाबालदर्शनोपनिषद् में व्यास भाष्य के समान ही इन व्रतों का उल्लेख किया गया है किन्तु प्रायश्चित रूप में, न कि व्यास भाष्य तथा जाबालदर्शनोपनिषद् की तरह तपस्या की व्याख्या करते हुए। वस्तुतः ये सभी तप खान-पान से सम्बन्धित हैं। अतः प्रायश्चित्त रूप में होते हुए भी चित्तशुद्धि के साधक हैं क्योंकि इनमें खान-पान के नियन्त्रण रूपी द्वन्द्व को सहन करते हुए चित्तशुद्धि का विधान किया गया है।

---

१. नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासना। यो० सू० २.१

२. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति। तैत्तिरीयो० ३.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि 'तप सन्तापे' के अनुसार तप धातु सन्ताप = कष्ट देने के अर्थ में है किन्तु व्यासजी ने योग के प्रसंग में इस अर्थ को स्वीकार न करके केवल द्वन्द्वों के सहने मात्र को तप कहा है। योग साधक योगसाधनों तथा विलासिता की सामग्री से दूर रहता है अतः द्वन्द्व सहन उसके लिए स्वाभाविक बात है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि तप के नाम पर शरीर को कष्ट देने की अनेक क्रियायें करके शरीर को सुखा दिया जाए। इसीलिए भास्वतीकार ने तप की परिभाषा यही की है।[1]

स्वाध्याय - नियमों में चतुर्थ नियम स्वाध्याय का उल्लेख पतंजलि ने अष्टांगयोग तथा क्रियायोग के प्रसंग में किया है। व्यास भाष्य में दोनों स्थानों पर स्वाध्याय का अर्थ मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन तथा प्रणवजप किया है।[2] 'अहरह स्वाध्यायमधीयीत' आदि स्थानो पर स्वाध्याय पद से वेद का ग्रहण भी किया जाता है। स्व का अर्थ अपना भी होता है। स्वस्य अध्ययनम्। अपने आन्तरिक अध्ययन को भी स्वाध्याय कहा जाता है। अन्तर्मुख होकर अपने चित्त तथा उसमें निहित विचारों के अध्ययन को भी स्वाध्याय कहते हैं। उपनिषदों में स्वाध्याय का पर्याप्त विस्तार है। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वाध्याय के साथ प्रवचन को भी जोड़कर इन दोनों को करना आवश्यक कर्त्तव्य बतलाया गया है।[3] साथ ही योग दर्शन के समान ही प्रणव आदि के जप का विधान भी उपनिषदों में किया गया है।

ईश्वरप्रणिधान—ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख पतंजलि ने नियमों के अन्तर्गत तथा क्रिया योग के अंग के रूप में भी किया है। व्यास भाष्य में इन दोनों स्थानों पर ईश्वरप्रणिधान का अर्थ परमगुरु परमात्मा में अपने समस्त कर्मों का अर्पण करना अथवा कर्मफल में इच्छा न रखना कहा है।[4] भगवद्गीता

---

१. तपस्तु क्लेशसहनं सुखत्यागश्च कायसंयमस्तपः। (भास्वती पृ० १३८)।

२. स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां मन्त्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।
यो० सू० व्या०भा० २.१
स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। यो० सू० भाष्य २.३२

३. ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय०। तैत्तिरीय०१.९.१-६
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। वही, १.१०.१

४. ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।
(यो० सू० २.१)
ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। यो० सू० २.३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९.२७-२८) में भी श्री कृष्ण अर्जुन को यही कहते हैं कि अपना खाना, पीना यज्ञ, दान, तप, कर्म सब कुछ मेरे अर्पण कर दो, तभी कर्मों के शुभाशुभ फल से छूट पाओगे।[१] उपनिषदों में ईश्वरप्रणिधान का नाम तथा परमेश्वर के प्रति सभी कर्मों के अर्पण की बात तो नहीं कही गयी है किन्तु यह अवश्य कहा है कि कर्म व्यक्ति को बांधने वाले न हों।[२] इसकी व्याख्या में यही कहा गया है कि निष्काम कर्म ही व्यक्ति को बांधने वाले नहीं होते जबकि सकाम कर्म बन्धन का कारण बनते हैं। ईशोपनिषद् का उक्त वचन योग दर्शन के 'तत्फलसंन्यासो' अर्थात् कर्मफल में अनासक्ति को ही द्योतित कर रहा है। ईश्वरप्राणिधान का फल बतलाते हुए व्यासजी लिखते हैं कि ईश्वरप्राणिधान अर्थात् भक्ति विशेष से अपने अनुकूल बनाए जाने पर ईश्वर अपने भक्त पर कृपा करता है जिससे उसे शीघ्र ही समाधि एवं उनके लाभों की प्राप्ति हो जाती है।[3] कठोपनिषद् १.२.२३ तथा मुण्डकोपनिषद्[४] ३.२-३ में समान रूप से एक श्लोक उपलब्ध होता है जिसमें कहा गया है कि यह आत्मा (ब्रह्म) जिसको स्वीकार कर लेता है उसके सामने ही अपने स्वरूप को प्रकट है। यह ईश्वर प्रणिधान ही है जिसका निर्देश पतंजलि ने अपने सूत्रों में किया है। इसी प्रकार कठोपनिषद् १.२.२० तथा श्वेताश्वरोपनिषद्[५] ३.२० में कहा गया है कि परमात्मा की कृपा से ही उस महान् ईश परमात्मा को व्यक्ति देख सकता है। ईश्वर प्रणिधान के रूप में जब ईश्वर के समक्ष अपने सभी कर्मों का समर्पण साधक कर देता है, तभी ईश्वर उस पर कृपा करके अपने स्वरूप को प्रकट करता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी वाणी को मन में तथा मन को बुद्धि में लगा दें। बुद्धि को महत्तत्व में एवं महत्तत्व को शान्त आत्मा पर ब्रह्म में लगा दे।[६] यहाँ पर

---

१. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ गीता ९.२७

२. न कर्म लिप्यते नरे। ईशो० श्लोक २

३. प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।
यो० सू० १.२३

४. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणते तनूं स्वाम्।

५. तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादन्महिमानमीशम्।

६. यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तयच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ कठो० ३.१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियों, मन, बुद्धि, महत्तत्व को क्रमशः उत्तरोत्तर में समाहित करते हुए अन्त में सबको परमात्मा में लगाने की बात कही है। यह एक प्रकार से ईश्वर प्रणिधान ही है। इस प्रकार योगदर्शन में कहे गए यम-नियमों का उल्लेख किसी न किसी प्रकार में उपनिषदों में प्राप्त हो जाता है।

यम-नियमों के प्रयोजन

सम्पूर्ण यम नियमों को प्रयोजन की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है –

(१) **दुष्कर्मों से निवारणार्थ** इस कोटि में अहिंसा, सत्य तथा अस्तेय को रखा जा सकता है। ये तीनों यम क्रमशः हिंसा, असत्य तथा स्तेय इन तीनों दुष्कर्मों की निवृत्यर्थं हैं। हिंसा आदि दुष्कर्म इतने गम्भीर एवं भयावह हैं कि इनसे व्यक्ति को पाप लगेगा जिससे वह क्रमशः अधोगति की ओर अग्रसर होता रहेगा। अतः सर्वप्रथम पतंजलि इन्हीं स्थूल दोषों के निवारणार्थ अहिंसा, सत्य तथा अस्तेय की साधना का विधान करते हैं। इन दोषों के विद्यमान रहते हुए व्यक्ति न केवल स्वयं को पापभागी बनता है अपितु दूसरे प्राणियों को भी कष्ट पहुंचाता है। अतः सर्वप्रथम इनकी निवृत्ति परम आवश्यक है।

(२) **सांसारिक पदार्थों से विरक्ति**—इस प्रकार बाह्य एवं प्रमुख दोषों से हटाकर पतंजलि ऐसे आन्तरिक दोषों की ओर आते हैं जिनके विद्यमान रहने पर पूर्ववत् पाप तो नहीं लगता किन्तु इनके कारण व्यक्ति योग मार्ग में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि चित्तवृत्ति साँसारिक विषयों में फंसी रहेगी तो व्यक्ति इन विषयों में भी सुख का अनुभव करता हुआ इनके अर्जन, रक्षण में ही लगा रहेगा। जिस कारण उसकी प्रकृति योगमार्ग में नहीं होगी। अतः पंतजलि ने विषयों से चित्त को सर्वथा हटाने के लिए अपरिग्रह नामक यम का विधान किया है। इसकी व्याख्या में व्यासजी लिखते हैं विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय आदि दोष होने के कारण इनका सर्वथा परित्याग अपरिग्रह कहलाता है। अपरिग्रही व्यक्ति ही योग की ओर उन्मुख होगा। सन्तोष भी इसकी ही पुष्टि के लिए है। इसके अतिरिक्त बाह्य शौच का भी यही लाभ होता है कि इसके द्वारा योगी अपने शरीर में नाना प्रकार की अशुद्धि देखता हुआ स्त्री आदि के शरीर को भी उसी प्रकार का अशुद्ध समझकर उससे विरक्त रहता है।

(३) **चित्त मलों का क्षालन**—केवल विषयों की ओर प्रवृत्ति न होने से भी आवश्यक नहीं कि व्यक्ति यौगिक उन्नति कर सके। इसका कारण यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्त में इस जन्म तथा परजन्मों के नाना संस्कार जमे हुए हैं। अविद्या आदि मलों से युक्त होने के कारण साधक आत्मिक उन्नति नहीं कर सकता। अतः इन अविद्या आदि सूक्ष्म मलों के निवारणार्थ पतंजलि ने शौच तथा तप का विधान किया है। उक्त आशय को रखकर ही व्यासजी ने शौच के दो भेद किए हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। आभ्यन्तर शौच के द्वारा चित्त के मलों का क्षालन होता है। पतंजलि ने इसी रूप में शौच के लाभ भी दो गिनाए हैं। तप का विधान भी इसीलिए किया गया है।

(४) **एकाग्रता एवं समाधि में सहायता** चित्तमलों का क्षालन होने पर ही वह एकाग्र होता हुआ समाधि की सिद्धि कर पाएगा। इसलिए चित्त मलों के क्षालन के उपरान्त चित्त की एकाग्रता के लिए स्वाध्याय का विधान किया है। जैसाकि पीछे कहा जा चुका है कि स्वाध्याय का अर्थ प्रणव जप अथवा मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन है। ये दोनों ही मन की एकाग्रता में सहायक हैं। चित्त एकाग्र होने पर ही समाधि सिद्ध होती है। इसकी सहायता के लिए ही अन्तिम नियम ईश्वर प्रणिधान का विधान पतंजलि ने किया है।

योगदर्शन में यम-नियमों के लाभ—पतंजलि ने यमनियमों के जो लाभ गिनाए हैं वे सर्वांश में ये नहीं हैं जिनका कि उल्लेख अभी किया गया है। पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट यम-नियमों के लाभों में अधिकतर सिद्धि स्वरूप हैं जो कि उन यम-नियमों पर आचरण करने से साधक को स्वतः प्राप्त होती है। इन सिद्धियों के लिए साधक न तो यत्न करता है, न ये उसका लक्ष्य होती हैं तथा न उसे योग मार्ग में सहायता देती हैं। ये स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। यथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का फल पतंजलि ने क्रमशः योगी के पास सभी प्राणियों का वैरत्याग[१] क्रियाफलाश्रयत्व,[२] सभी रत्नो की उपस्थिति[३], पूर्व तथा पर जन्म का ज्ञान[४] कहा है। स्पष्ट है कि योगी के लिए ये सिद्धियां महत्त्व नहीं रखतीं। न ही यौगिक उन्नति में ये सहायक हैं। योगी की वाणी अमोध हो जाने तक योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाए, इससे योगी का क्या

---

१. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। यो० सू० २.३५

२. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। वही, २.३६

३. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। वही, २.३७

४. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तसम्बोधः। वही, २.३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोजन । उसे तो समाधि की सिद्धि करनी है । अब निष्प्रयोजन होने पर भी सिद्धि के रूप में ये योगी को प्राप्त होती हैं । ब्रह्मचर्य तथा तप के द्वारा होने वाले लाभ भी आंशिक रूप में इसी प्रकार के हैं । पतंजलि ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य लाभ मानते हैं । इससे शरीर तो रोग रहित एवं बलिष्ठ होकर योग-साधना के लिए उपयुक्त बनेगा साथ ही व्यासजी वीर्य लाभ के द्वारा योगी को नष्ट न होने वाले अन्य गुणों की प्राप्ति भी बतला रहे हैं ।[1] वाचस्पति मिश्र ने इन गुणों से अणिमादि सिद्धियों का ग्रहण किया है ।[2] तप के लाभों में भी पतंजलि ने शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि का लाभ माना है ।[3] व्यासजी ने शरीर की सिद्धि का अर्थ अणिमादि की प्राप्ति तथा इन्द्रियों की सिद्धि का अर्थ दूर से सुनना तथा दूर का देखना आदि किया है ।[4] ये सिद्धियाँ भी योगी के लिए निष्प्रयोजन हैं तथा इनसे योगमार्ग में कोई सहायता नहीं मिलती । दत्तात्रेय योग शास्त्र में भी इनका वर्णन है ।[5]

चित्तमलक्षालन तथा समाधि सिद्धि—योगी के लिए चित्त के मलों का नाश अति आवश्यक है । इसके उपरान्त ही वह समाधि सिद्धि कर पायेगा । इसीलिए पतंजलि ने आन्तरिक शौच का लाभ बतलाते हुए लिखा है कि इससे सत्वशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता; इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है ।[6] तप के द्वारा भी अशुद्धि क्षय होकर ही शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है । इस प्रकार शौच तथा तप का प्रमुख प्रयोजन चित्त मलों का नाश करना है इसके उपरान्त एकाग्रता प्राप्त होने पर योगी आत्म-

१. यस्य लाभादप्रतिघातान्गुणान् उत्कर्षयति । यो० सू० २.३८ पर व्या० भा० पृ० ९६
२. अप्रतिघातान्गुणान् अणिमादीनुत्कर्षयति उपचिनोति । त० वै० पृ० ९६
३. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयातपसः । यो० सू० २.४३
४. कायसिद्धिरणिमाद्या । तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति । व्या० भा० पृ० ९७
५. तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो जायते ध्रुवम् ॥ दत्ता० योग० १९५
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्दूरगमस्तथा ॥ वही, १९५
वाक्सिद्धिः कामचारित्वमदृश्यकरणं तथा ॥ वही, १९६
६. सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च । यो० सू० ४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन की योग्यता प्राप्त करता है। तदनन्तर ईश्वर प्रणिधान योगी की समाधि सिद्धि में सहायक बनता है। स्वाध्याय अर्थात् प्रणव जप से भी चित्त एकाग्र होता है।[1] इसके अतिरिक्त देव तथा ऋषि आदि स्वाध्याय शील योगी को दर्शन देते हैं तथा इसके योग मार्ग में सहायक बनते हैं। इसकी प्रक्रिया यह है कि ध्यान में बैठने पर सिद्ध तथा योगी पुरुषों की आकृतियाँ मन में प्रादुर्भूत होती हैं। वे साधक से बातचीत भी करती हैं, उसकी शंकाओं का समाधान करती हैं तथा योगमार्ग में साधक की सहायता करती हैं। यह सब मानसिक प्रक्रिया है। मूर्तिमान् रूप में शरीर धारण करके सिद्ध नहीं आते। साधनारत साधकों में से अनेक को ऐसा अनुभव होता है।

पतंजलि ने सन्तोष के द्वारा सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति बतलायी है।[2] व्यास भाष्य में इसी की पुष्टि में महाभारत के शान्तिपर्व १७४.४६ के श्लोक को उद्धृत करके बतलाया है कि दिव्य सुख भी सन्तोष से प्राप्त सुख की तुलना नहीं कर सकते। ऐसा इसलिए होता है कि असन्तोषी व्यक्ति नाना कामनाओं की पूर्ति के लिए मन तथा शरीर से बेचैन रहता है जबकि सन्तोषी व्यक्ति का मन सर्वथा शान्त रहता है। जैसा कि महाभारत के ही एक श्लोक में कहा गया है—

सन्तोषाऽमृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

अर्थात् सन्तोष रूपी अमृत से तृप्त होने वाले व्यक्तियों को जो सुख होता है वह धन की तृष्णा में इधर-उधर भागने वाले लोगों को कहां प्राप्त हो सकता है। एक अन्य श्लोक में तो सन्तोष को स्वर्ग समान बतलाते हुए पतंजलि के अनुसार ही इसे परम सुख भी माना है।[3] मनुस्मृति में सन्तोष को सुखों का मूल तथा असन्तोष को दुःखों का कारण कहा गया है।[4]

---

१. अस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणनार्थं च भावयतश्चितमेकाग्रं सम्पद्यते।
यो० सू० १.२८ पर व्या० भा० पृ० ३०

२. सन्तोषादनुत्तमं सुखलाभः। यो० सू० २.४२

३. सन्तोषो वै स्वर्गसमः सन्तोषः परमं सुखम्।
तुष्टेर्न किञ्चित्परतः सुसम्यक् परितिष्ठति॥ महा० शा० प० २१२

४. सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः। मनु० अ० ४.५ श्लो०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार

आसन—योगदर्शन में सुख एवं स्थिरता पूर्वक बैठने को आसन कहा गया है। यह आसन प्रयत्न की शिथिलता तथा आकाश आदि की अनन्तता में चित्त लगाने से सिद्ध होता है।[1] इसके अतिरिक्त योगसूत्रों में आसन के नाम आदि के विषय में कुछ नहीं कहा गया। व्यासजी ने पद्मासन आदि १२ आसनों के नाम गिनाए हैं। शाण्डिल्योपनिषद् १.१ में 'आसनान्यष्टौ' कहकर केवल स्वास्तिकासन, पद्मासन, गोमुखासन वीरासन, सिद्धासन, सिंहासन, भद्रासन तथा मयूरासनों की परिभाषायें दी हैं। योगकुण्डल्युपनिषद् १.४ में केवल वज्रासन तथा पद्मासन ये दो आसन ही माने हैं। श्री जाबाल दर्शनोपनिषद् ३.१-२ में नौ आसन गिनाए हैं। इनमें सात आसन वे ही हैं जो कि शाण्डिल्योपनिषद् में ऊपर कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त इसमें सिद्धासन के स्थान पर मुक्तासन गिनाया है तथा सुखासन नामक नवम आसन भी माना है। ध्यानविन्दूपनिषद् में कहा गया है कि जितनी भी जीव जातियां होती हैं, उतने ही प्रकार के आसन होते हैं।[2]

यहां पर एक बात ध्यान देने की है कि शाण्डिल्योपनिषद् को छोड़कर अन्य किसी भी उपनिषद् तथा व्यास भाष्य में भी सिद्धासन का नाम नहीं गिनाया गया है जबकि योगी लोग इसे ध्यान के लिए प्रमुख आसन मानते हैं। इसके अतिरिक्त पद्मासन का नाम प्रत्येक उपनिषद् तथा व्यास भाष्य में भी गिनाया गया है। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में पद्मासन को समस्त व्याधियों के विष अथवा व्याधि एवं विषों का शमन करने वाला कहा गया है।[3] इसी प्रकार

---

१. स्थिरं सुखमासनम्। प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।
यो० सू० २.४६-४८

२. आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः। ध्यान-बिन्दु० श्लोक ४२

३. पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम्। त्रिशिख ब्राह्मणो० श्लोक ३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाण्डिल्योपनिषद् १.५ में पद्मासन को सभी के द्वारा समाहृत एवं १.८ में सिंहासन को योगियों के द्वारा भी पूजित आसन माना है[1] जबकि सिद्धासन का उल्लेख सामान्य रूप में ही किया है। दत्तात्रेय योगशास्त्र में भी पद्मासन को सर्वव्याधि विनाशक कहा है[2] तथा हठप्रदीपिका के अनुसार पद्मासन स्थित होकर प्राणायाम करने से मुक्त हो जाते हैं।[3] योगदर्शनों में आसनों का लाभ द्वन्द्वों का नाश कहा होना कहा है। व्यासजी ने द्वन्द्वों का अर्थ शीत-उष्ण आदि शारीरिक कष्ट किया है। इसके अतिरिक्त व्यास भाष्य के अनुसार अंगमेजयत्व भी आसन की सिद्धि से दूर हो जाता है।[4] अंगमेजयत्व को समाधि की सिद्धि में विघ्न माना गया है। यहां पर यह समझना चाहिए कि जब तक आसन लगा रहेगा तब तक ही साधक को शीत उष्ण आदि द्वन्द्व तथा अङ्गमेजयत्व कष्ट नहीं देंगे। सामान्य अवस्था में तो इनका प्रभाव पड़ेगा ही। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् श्लोक ५३ में यम-नियमों के साथ आसनों को भी नाडी शोधन में सहायक माना है। उक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि आसन केवल नाडी शोधन एवं शरीर की रोग निवृत्ति में ही सहायक है। यदि किसी को इनकी आवश्यकता न हो तो वह आसनो को छोड़ सकता है। इसीलिए पतंजलि ने आसन को भी बहिरङ्ग माना है। आजकल योग के नाम पर अधिकतर आसनो का ही अभ्यास कराया जाता है। अन्वेषण के आधार पर विविध व्याधियों के निवारण के लिए विविध आसन आजकल प्रचलित हैं।

प्राणायाम

पतंजलि ने प्राणायाम सामान्य का लक्षण कहा है कि आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास तथा प्रश्वास की स्वाभाविक गति को रोक देने का नाम प्राणायाम है। बाहर से नासिका द्वारा वायु को अन्दर लेना श्वास कहा जाता है तथा

---

१. पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम्। शाण्डिल्यो० १.५
सिद्धासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा। वही, १.८

२. इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्। दत्तात्रेय योगशास्त्र, ७४

३. पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम्।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥ हठप्रदीपिका १.४९

४. प्रयत्नोपरमासिद्धयत्यासनं येन नांगमेजयो भवति।
यो० सू० १.४७ पर व्या० भा०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्दर से वायु को बाहर निकालना प्रश्वास कहा जाता है। प्राणायाम में दोनों का अवरोध हो जाता है। यह प्राणायाम सामान्य का लक्षण है। इसके आगे पतंजलि प्राणायाम के चार भेद बतलाये हैं (१) वाह्यवृति (२) अभ्यन्तर-वृत्ति (३) स्तम्भवृत्ति (४) बाह्याभ्यन्तर विषयापेक्षी। वाह्यवृत्ति प्राणायाम में रेचक द्वारा श्वास प्रश्वास की गति को रोक दिया जाता है। अतः इसे वाह्य कुम्भक भी कहते हैं। आभ्यन्तरवृत्ति में पूरक द्वारा यह गति रोकी जाती है अतः यह आभ्यन्तर कुम्भक कहलाता है। स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम में बिना पूरक रेचक किये श्वास प्रवास दोनों की गतियों को एकदम जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है। अतः यह केवल कुम्भक कहलाता है। चतुर्थ प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास की गति को रोके बिना केवल रेचक पूरक किए जाते हैं। ये चारों प्रकार के प्राणायाम देश काल तथा संख्या से उपलक्षित होते हुए दीर्घ तथा सूक्ष्म रूप में होते हैं। यथा—

(१) **देशोपलक्षित**—व्यासजी के अनुसार देशोपलक्षित का अर्थ है कि नासिका से बाहर फेंकते समय प्राण कितनी दूर तक जाता है। जैसे-जैसे प्राणा-याम का अभ्यास बढ़ता जाता है, वह अधिक दूरी तक के स्थान को प्रभावित करने लगता है।

(२) **कालोपलक्षित**—इसका अभिप्राय है कि रेचक, पूरक तथा कुम्भक में कितना समय लगता है। यथा पूरक में एक सेकेण्ड रेचक में दो सेकेण्ड तथा कुम्भक में चार सेकेण्ड। ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों यह समय भी बदल जाता है।

(३) **संख्योपलक्षित**—प्राणायाम के अभ्यास से सामान्य अवस्था में लिए जाने वाले कई श्वासों का एक श्वास बनता है। यह प्राणायाम मृदु, मध्य तथा तीव्र के रूप में तीन प्रकार का है। जब बारह श्वास प्रश्वास का एक श्वास बनने लगे तब यह मृदु कहलाता है। चौबीस श्वास प्रश्वास का एक श्वास होने पर मध्यम तथा छत्तीस का एक श्वास होने पर तीव्र कहलाता है।[1] दीर्घ तथा सूक्ष्म का अभिप्राय है लम्बा एवं पतला हल्का। ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों प्राण की बाहर फेंकने में उसकी दूरी (देश) बढ़ती जाती है। इसी प्रकार अभ्यास से प्राण पहले की अपेक्षा अधिक समय तक रुकने लगता है। इस प्रकार प्राण पहले की अपेक्षा देश तथा काल की दृष्टि से दीर्घ होता चला

---

१. पात० योगप्रदीप, पृ० ४५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। यद्यपि प्राण की दीर्घता बढ़ती जाती है किन्तु वह उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता चला जाता है। जिस प्रकार रेचक प्राणायाम में श्वास की लम्बाई बाहर बढ़ती जाती है उसी प्रकार पूरक में यह लम्बाई अन्दर बढ़ती जाती है। अन्दर श्वास का स्पर्श (दीर्घता) नीचे की ओर नाभि-पादतल तथा ऊपर की ओर मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। जैसे-जैसे प्राण दीर्घ होता चला जाएगा वैसे-वैसे ही वह सूक्ष्म = हलका पतला होता चला जायेगा। प्राण का यही दीर्घ एवं सूक्ष्मपना है। इसी दीर्घत्व के आधार पर प्राणायाम का नामकरण हुआ है। प्राणायाम में दो पद हैं—प्राण तथा आयाम। इनका अर्थ है - प्राणों का आयाम अर्थात् फैलाव, विस्तार। अधिकाधिक दीर्घ होकर ही प्राण पूर्वापेक्षया अधिक फैलाव या विस्तार को धारण कर लेता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्राण के सूक्ष्म होने का अर्थ है कि अत्यन्त सावधानी पूर्वक ही प्राण को देखा जा सकता है। सूक्ष्म का अर्थ मन्द होना नहीं है।[1] विज्ञानभिक्षु भी वायु के संचार की सूक्ष्मता के कारण ही प्राण की सूक्ष्मता कहते हैं।[2]

132299

स्वामी लक्ष्मणानन्द ने अपने अनुभव के आधार पर इस सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। उनके अनुसार देशोपलक्षित प्राणायाम चार प्रकार का है। (१) प्राणवायु को नासिका देश से बाहर निकाल कर प्रथम प्राणायाम। (२) अपान वायु को नाभि देश में भरकर दूसरा (३) अपानवायु को नाभि तथा हृदय के मध्यवर्ती स्थान में ठहराकर तीसरा तथा (४) प्राण और अपान को नासिका में ठहराकर चौथा प्राणायाम किया जाता है। स्वामी जी के अनुसार इन चारों प्राणायामों को देशोपलक्षित इसलिए कहते हैं कि ये अपने-अपने नियत देश (स्थान) में ही किए जाते हैं। इनमें से प्रत्येक को कालोपलक्षित इसलिए कहते हैं कि इनका अभ्यास एक नियत काल तक किया जाता है। संख्योपलक्षित इस लिए कहते हैं कि प्राणायाम करते समय ओ३म् के जप की संख्या की जाती है। स्वामी जी ने दीर्घ तथा सूक्ष्म की व्याख्या भी अन्य प्रकार से ही की है। इनके अनुसार प्रारम्भ में ये प्राणायाम थोड़ी देर तक किये जाते हैं अतः सूक्ष्म कहलाते हैं तथा अभ्यास बढ़ने पर अधिक देर तक

---

१. परमनैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्मो न तु मन्दतया।

—त० वै०, पृ० १००

२. वायुसंचारस्यातिसूक्ष्मतया च सूक्ष्मः—यो० सू०, पृ० २६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये जा सकने के कारण दीर्घ कहलाते हैं।[1] अनुभव पर आधारित होने पर भी उक्त व्याख्या व्यास भाष्य से मेल नहीं खाती है इसी प्रकार बाह्य अभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्ति प्राणायामों की परिभाषा देते हुए स्वामीजी लिखते हैं कि जब भीतर से प्राण बाहर निकले तब उसे बाहर ही रोकने से बाह्यवृति, जब बाहर से श्वास भीतर को आये तब उसे जितना हो सके अन्दर ही रोकना अभ्यन्तर वृति तथा जितनी देर तक हो सके उतनी देर तक प्राण को जहाँ का तहाँ रोकना स्तम्भवृत्ति प्राणायाम कहलाता है।[2] महर्षि दयानन्द चारों प्राणायामों की विधि इस प्रकार दिखलाते हैं—

जब पेट से बाहर जाने के लिए प्राणवायु प्रवृत्त होने लगे उसको लक्ष्य करके बाहर की ओर ही प्राणों को फेंकना अर्थात् वमनवत् बलपूर्वक बाहर निकालना चाहिए। यह प्रथम प्राणायाम की विधि है। तदनन्तर जब प्राण नासिका के बाहर वाले देश से भीतर नाभि की ओर आने लगे, तब प्राणों को भीतर की ओर आने के प्रथम क्षण में ही भीतर को ग्रहण करके बारम्बार यथाशक्ति जितनी देर सुखपूर्वक हो सके उतनी देर प्राणों को भीतर ही रोकता रहे। यह दूसरे प्राणायाम की विधि है। इस प्रकार जब क्रमश: इन दोनों प्राणायामों को अभ्यास करते-करते परिपक्व कर ले, तब प्राण और अपान इन दोनों की गति से अभाव नाम रोकने के लिए जो क्रिया की जाती है वह चतुर्थ प्राणायाम है। परन्तु तीसरा जो प्राणायाम हैं वह बाह्य विषय नामक प्रथम तथा आभ्यन्तर विषय नामक द्वितीय प्राणायाम की अपेक्षा नहीं करता प्रत्युत जिस जिस देश में जो-जो प्राण वर्त्तमान है उसको वहाँ का वहीं एकदम झट से रोक देना चाहिए। अर्थात तीसरे प्राणायाम को करते समय न तो प्राणों को बाहर निकालने और न अपान को भीतर लेने की क्रिया करनी होती है। अत एव प्रथम और दूसरे प्राणायामों को सीखने और अभ्यास करने की कुछ अपेक्षा इस तीसरे प्राणायाम में नहीं रहती।[3] अभिप्राय यह है कि प्रथम और दूसरा प्राणायाम सीखे बिना भी तीसरा प्राणायाम सीखा जा सकता है परन्तु चौथा प्राणायाम प्रथम और द्वितीय प्राणायामों के सीखे बिना कदापि नहीं सीखा जा सकता। यही तीसरे और चौथे प्राणायामों की विशेषता है।

---

१. ध्यानयोग प्रकाश, पृ० ११९

२. वही, पृ० १२०

३. ऋग्० भा० भू० पृ० २०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवद्गीता में कहा गया है कि दोनों भ्रुकुटियो के मध्य त्रिकुटी नामक देश में चक्षु आदि इन्द्रियों सहित मन को स्थिर करके प्राण तथा अपान दोनों को समान करके ध्यान करें।[1] इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि योगी लोग प्राण तथा अपान की गति को रोककर प्राण में अपान का तथा अपान में प्राण का हवन करते हैं।[2] योगी लक्ष्मणानन्द के अनुसार गीता के इन श्लोकों में चतुर्थ प्राणायाम का ही वर्णन किया गया है।

उपनिषदों में प्राणायाम का यद्यपि बहुत अधिक वर्णन नहीं किया गया है तथापि जितना भी प्राणसम्बन्धी वर्णन उपलब्ध होता है उसमें प्राणों का महत्त्व भली-भाँति प्रतिपादित किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि सभी भूत प्राण से ही उत्पन्न होते हैं तथा प्राणों में ही लीन होते हैं।[3] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी इसी प्राण से भूतों की उत्पत्ति बतलाकर प्राण को साक्षात् ब्रह्म ही कह दिया गया।[4] प्रश्नोपनिषद् में प्राण की उत्पत्ति आत्मा से बतलाते हुए प्राण के अन्य भेद व्यान, उदान, समान आदि का भी उल्लेख किया गया है। इस उपनिषद के अनुसार चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका, पायु तथा उपस्थ में स्वयं प्राण तथा शरीर के मध्य भाग में समान नामक प्राण रहता है। शरीर में फैली हुयी सहस्रों नाड़ियों में व्यान नामक प्राण विचरण करता है।[5] मनुष्य के पाप पुण्य के अनुसार उदान नामक प्राण उसको पापलोक अथवा पुण्यलोक को प्राप्त कराता है। पाप तथा पुण्य के मिश्रिण से मनुष्य लोक को प्राप्त कराता है। इतना ही नहीं इस उपनिषद् में तो यहां तक कहा गया है कि तेज से संयुक्त होकर प्राण आत्मा को उसके सङ्कल्पित लोक को प्राप्त करा देता हैं। प्राणवेत्ता विद्वान् पुरुष अमृत हो जाता।[6] कठोपनिषद् में

---

१. स्पर्शान् कृत्वा बहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणायामौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।। गीता, ५।२६

२. अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।। गीता ४।२६

३. सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति। छान्दो० १.११.५

४. प्राणो ब्रह्मेति व्यजानत। तै० उ० भृ० व० अनु० ३

५. प्रश्नोपनिषद् २.३-५

६. प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।
य एवं विद्वान् प्राणं वेद न ह्यस्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति ।।
प्रश्नो० ३.१०.११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ स्पष्ट रूप में प्राणायाम की एक प्रक्रिया दिखलाई है कि प्रथम प्राणायाम करते समय हृदय देशस्थ प्राण वायु को ऊपर अर्थात ब्रह्माण्ड में ले जाकर स्थिर करता है तथा दूसरा प्राणायाम करते समय अपान वायु को नीचे की ओर धकेलता है। नाभि तथा कण्ठ देश के मध्य हृदय स्थित जीवात्मा की समस्त इन्द्रियाँ उपासना करती हैं।[1] स्वामी लक्ष्मणानन्द के अनुसार कठोपनिषद् के इस श्लोक में योगदर्शन में निर्दिष्ट प्रथम तथा द्वितीय प्राणायाम की ही विधि बतलायी गई है।[2] श्वेताश्वर उपनिषद् में भी संक्षेप में प्राणायाम की विधि बतलाई गई है जिसमें प्राणों को सूक्ष्म=क्षीण करना बतलाया है यहाँ पर वर्णित प्राण की क्षीणता का संकेत कदाचित योगसूत्र में वर्णित प्राणायाम की दीर्घता सूक्ष्मता की ओर ही है। इसी प्रसङ्ग में श्वेताश्वर उपनिषद् में प्राणायाम को मन के एकाग्र करने का साधन बतलाया गया।[3]

इन प्रधान उपनिषदों की भाँति ही अन्य उपनिषदों में भी प्राणायाम की पर्याप्त चर्चा करते हुए प्राणायाम करने की विधि प्राणायाम के भेद एवं उसके लाभों का वर्णन किया गया है। यथा —

प्राणायाम की विधि एवं लाभ—ध्यानविन्दु उपनिषद् में पूरक कुम्भक तथा रेचक करते समय नाभि प्रदेश, हृदय तथा ललाट में ध्यान करते हुए क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा तथा, शिव के ध्यान करते का विधान किया गया है।[4] इससे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि प्राणायाम तथा ध्यान में घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा प्राणायाम मन की एकाग्रता के लिए आवश्यक है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में पूरक, कुम्भक तथा रेचक की संस्था क्रमशः सोलह, चौंसठ तथा बत्तीस कही गयी है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि पूरक की अपेक्षा

---

१. ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ।। कठो० ५.३

२. ध्यानयोग प्रकाश, पृ० १४४

३. प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ।।
श्वेता० २.९

४. ध्यानबिन्दु० ३०-३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुम्भक चार गुना तथा रेचक दो गुना करना चाहिए।[1] शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि इडा के द्वारा पूरक करके पिङ्गला के द्वारा रेचक करे तथा पुनः पिङ्गला के द्वारा पूरक करके इडा के द्वारा रेचक करे। इससे शरीर की नाड़ी शुद्ध होती हैं जिसके परिणाम स्वरूप शरीर में लघुता, जठराग्नि की वृद्धि तथा नाद की अभिव्यक्ति होती है।[2] विविध प्रकार से प्राणों के संयम करने से प्राण सुषुम्ना के मुख का भेदन करके अन्दर प्रविष्ट होता है। जिससे कि मन की स्थिरता प्राप्त होती है।[3] इस उपनिषद् के अनुसार पूरक के पश्चात् जालन्धर नामक बन्ध लगाना चाहिए। तथा कुम्भक एवं रेचक के पश्चात् उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए। अपान की गति ऊपर को करके तथा प्राण को कण्ठ से नीचे ले जाकर योगी जरारहित तथा षोडश अवस्था युक्त हो जाता है।[4] प्राणायाम की पृथक्-पृथक् विधियों के पृथक् पृथक् ही लाभ बतलाते हुये इस उपनिषद् में कहा गया है कि (१) सुखासन में दायें नथुने से रेचक करने से कपाल शोधन तथा वातनाड़ीगत समस्त रोगों का शमन हो जाता है (२) दोनों नथुनों से शब्दपूर्वक श्वास लेकर यथाशक्ति कुम्भक करके बायें नथुने से श्वास निकालने पर कफनिवृत्ति तथा जठराग्नि तीव्र होती है। इसी प्रकार बायें नथुने से सीत्कार पूर्वक श्वास लेकर कुम्भक के पश्चात् दोनो नथुनों से रेचक करने से क्षुधा तृषा निद्रा तथा आलस्य दूर होते हैं। (४) जिह्वा के द्वारा वायु को ग्रहण करके कुम्भक के पश्चात् दोनों नथुनों से श्वास छोड़ते से गुल्म, प्लीहा, ज्वर, पित्त तथा क्षुधा की निवृत्ति होती है। इस उपनिषद् में कुम्भक के भी दो भेद किये गये हैं—सहित कुम्भक तथा केवल कुम्भक। रेचक-पूरक से युक्त कुम्भक को सहित कुम्भक कहते हैं। तथा इसके बिना होने वाला केवल कुम्भक कहलाता है। केवल कुम्भक सिद्ध हो जाने पर तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। इसी से कुण्डलिनी जागरण भी होता है। इसके सिद्ध हो जाने पर योगी हल्के शरीरवाला प्रसन्नवदन, निर्मल लोचन, सभी रोगों से मुक्त तथा जितबिन्दु हो जाता है।[5]

१. मण्डलब्राह्मणोप० १.१
२. शाण्डिल्योप १.१६
३. वही, १०२५-२६
४. वही, १.२१-३०
५. शाण्डिल्यो० १.३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जावाल दर्शनोपनिषद् के अनुसार नागाग्र, नाभिमध्य तथा पैर के अंगूठे पर प्राण धारण करने से व्यक्ति सभी रोगों से मुक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है।[१] इस उपनिषद् में कहा गया है कि नाभिमध्य, जिह्वामूल, भ्रूमध्य, नाभि, नेत्र, शिर आदि स्थानों में प्राण को रोकने से समस्त व्याधियां नष्ट हो जाती हैं। हाथ के अंगूठों से दोनों कान, तर्जनी अंगुलियों से दोनों नेत्र तथा अन्य अंगुलियों से दोनों नथुनों को बन्द करके, मूर्धा में प्राण धारण करने से प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है जिससे अत्यधिक आनन्द की अनुभूति होती है।[२] इस उपनिषद् के अनुसार तो रेचक तथा पूरक के बिना केवल कुम्भक करने से शरीर भूमि से ऊपर उठ जाता है।[३] प्राणायाम के द्वारा भूमित्याग की बात योग तत्त्वोपनिषद् (श्लो० ५४, ७५) में भी कही गयी है। इस उपनिषद् में प्राणायाम के कुछ ऐसे लाभ भी बतलाये गये हैं कि जिनका क्रियात्मक रूप में साक्षात्कार किये बिना विश्वास करना कठिन ही प्रतीत होता है। यथा—ऐसे योगी के मलमूत्र प्रलेपन से लौहादि धातु भी सुवर्ण बन जाती है,[४] इसके अतिरिक्त दूर श्रुति, दूर दृष्टि, वाक्सिद्धि, इच्छानुसार अन्तर्धान होना, मूत्र-पुरीष की अल्पता, अल्पनिद्रा, कामदेव के समान सौन्दर्य प्राप्त होता है।[५] ब्रह्मचर्य को धारण करने के कारण ऐसे योगी के शरीर में सुगन्ध उत्पन्न हो जाती है। स्त्रियाँ इसके साथ सङ्गम की इच्छुक रहती है किन्तु उपनिषत्कार सावधान करते हुए कहता है कि ऐसा करने से योगी का पतन हो जायेगा। अतः योगी को स्त्री सङ्ग से पृथक् ही रहना चाहिए। गोरक्षनाथ कृत योगबीज के अनुसार तो प्राणजय के बिना योग करना इसी प्रकार है जैसे कि कच्चे घड़े से सागर को पार करना। इसके अनुसार मन को

---

१. जावालदर्शनोप० ६. २२-६३

२. वही ६.३४-३५

३. वही, ६.१८

४. योगतत्त्वोप० श्लो० ७४

५. दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद् दूरगमस्तथा।
वाक्सिद्धिकामधारित्वमदृश्यकरणं तथा॥
मलमूत्रप्रलेपेन लोहादीनां सुवर्णता।
खेचरत्वं तथान्यत्तु सतताभ्यासयोगिनः॥
दत्तात्रेय योग शास्त्र श्लो० १६५-१६७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीतने का एकमात्र साधन प्राण ही है, अन्य नहीं। इसलिए मुमुक्षु व्यक्ति को अवश्य ही प्राणजय करना चाहिए।[1]

प्राणायाम के भेद तथा संख्या— इन उपनिषदों में भस्त्रिका, उज्जायी आदि रूपों में प्राणायाम अनेक प्रकार का माना गया है। योगकुण्डली उपनिषद् में प्राणायाम की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि शरीरस्थ वायु को प्राण तथा कुम्भक को आयाम कहते हैं। इस प्रकार प्राणायाम का अर्थ हुआ शरीरस्थ वायु को कुम्भक द्वारा रोकना। प्राणायाम की यह परिभाषा समीचीन ही जान पड़ती है क्योंकि कुम्भक के द्वारा ही प्राण पूर्वापेक्षया आयाम अर्थात् विस्तार को प्राप्त करता है। इसमें कुम्भक के दो भेद किये गये हैं— सहित तथा केवल कुम्भक। सूर्य भेदी, उज्जायी शीतली तथा भस्त्री के साथ किया जाने वाला प्राणायाम सहित कहा जाता है तथा इनके बिना किया जाने वाला प्राणायाम केवल कहलाता है।[2] योगशिखोपनिषद् में भी उपर्युक्त चारों प्रकार के प्राणायामों के नाम देते हुए विस्तार से इनके करने की विधि तथा लाभ भी बतताए हैं। इनमें से सूर्य भेदी प्राणायाम उदर रोग तथा क्रिमि रोग का नाशक है। उज्जायी प्राणायाम नाड़ियों एवं धातुओं के दोषों का शमन करता है। शीतलीकरण के द्वारा भूख, प्यास तथा पित्त नष्ट होता है तथा भस्त्रिका के द्वारा वात, पित्त, कफ जन्य दोष नष्ट होकर जठराग्नि तीव्र होती है। कुण्डली जागरण में भी यह प्राणायाम सहायक होता है।[3]

कुछ उपनिषदों में प्राणायाम के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद भी किये हैं। इनका लक्षण करते हुए इन उपनिषदों में प्रायः समान रूप में कहा गया है कि जिस प्राणायाम के द्वारा पसीना उत्पन्न हो वह अधम कहलाता है। जिसमें कम्पन हो वह मध्यम तथा जिसके द्वारा शरीर पृथिवी से ऊपर उठ जाये वह उत्तम प्राणायाम है।[4]

---

१. योगबीज ७८-८०

२. योग कुण्डलिनी० १.१८.२१

३. योग शिखोप० १-९२-९८

४. त्रिशिख ब्राह्मणो श्लो० १०३-१०४, योग चूड़ामणि० श्लो० १०५, जावाला दर्शना० ६.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्याहार

पतंजलि के अनुसार इन्द्रियाँ जब विषयों के अभिमुख न होकर स्वरूप में अवस्थित रहतीं हैं, उसे प्रत्याहार कहते हैं।[१] भोज के अनुसार विषयों के प्रति अभिमुख न होने पर इन्द्रियों का सम्बन्ध केवल चित्त से ही रहता है इसलिए इन्द्रियां भी चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती हैं।[२] यहां पर यह अवधेय है कि पतंजलि ने सूत्र में 'स्वरूपानुकार इव' कहा है यहाँ पर प्रयुक्त 'इव' पद इस बात को बतलाता है कि इन्द्रियां चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा करती है, वस्तुतः वे चित्ताभिमुख नहीं हो सकती। भोज ने अपनी टीका में 'इव' का प्रयोग नहीं किया है। प्रत्याहार की स्थिति में भी इन्द्रियां चित्त का साक्षात्कार नहीं करती क्योंकि रूप, रस आदि अपने-अपने विषयों को छोड़कर अन्य किसी को ग्रहण करने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। अतः चित्त के निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार निरुद्ध हो जाती हैं यथा रानी मक्खी के रुक जाने पर अन्य मक्खियां भी रुक जाती हैं व्यास जी के अनुसार प्रत्याहार यही है।[3] प्रश्नोपनिषद् २.१.४ में प्राण की महिमा बतलाते उक्त दृष्टान्त दिया गया है कि प्राण के आश्रय से सभी इन्द्रियां उसी प्रकार रहती हैं यथा रानी मक्खी के आश्रय से अन्य मक्खियां।

प्रत्याहार का फल बतलाते हुए पतंजलि कहते हैं कि तब इन्द्रियां सर्वथा वश में रहती हैं, उन पर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाती है।[४] इन्द्रियों की परमावश्यकता को स्पष्ट करते हुए व्यास जी ने अन्य चार आचार्यों के विचारों को भी प्रस्तुत किया है। (१) कुछ आचार्यों के अनुसार विषय विद्यमान रहने पर भी उनके प्रति आसक्ति का अभाव इन्द्रियजय है।[५] सम्भवतः इसी अवस्था के लिए कालिदास ने कहा है—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न

---

१. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
यो. सू. २.५४

२. तस्मिन् सति चित्तस्य रूपानुकारिणीन्द्रियाणि भवन्ति। भो. वृ. पृ. २७४

३. इन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः।
यो० सू० २.५४ पर व्या० भा०

४. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। यो. सू. २.५५।

५. शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्।
यो० सू० २.५५ पर व्या० भा०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतांसि त एव धीराः ।[१] कठोपनिषद् में हमें यह स्थिति देखने को मिलती है। यमाचार्य के द्वारा समस्त विषय सुखों का प्रलोभन दिये जाने पर भी नचिकेता उन विषयों के प्रति किञ्चित मात्र भी आकृष्ट नहीं होता। (२) कुछ आचार्य मानते हैं कि अपनी इच्छा होने पर इन्द्रियों द्वारा विषयों का साक्षात्कार होना तथा इच्छा के अभाव में साक्षात्कार न होना इन्द्रियजय है।[२] अन्य आचार्य रागद्वेष आदि के अभाव में सुख दुःखादि की अनुभूति के बिना ही शब्दादि विषयों के साक्षात्कार को इन्द्रियजय मानते हैं।[३] जैगीषव्य आचार्य के अनुसार चित्त के एकाग्र होने के कारण विषयों की ओर इन्द्रियों की प्रवृत्ति न होना ही इन्द्रियजय है।[४] इन विकल्पों को प्रस्तुत करके व्यास जी कहते हैं कि चित्त के निरोध हो जाने पर इन्द्रियां भी स्वतः निरुद्ध हो जाती है। उनके निरोध के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है।[५] महर्षि दयानन्द प्रत्याहार का फल बतलाते हुए लिखते हैं 'तब वह मनुष्य जितेन्द्रियं होके जहां अपने मन को ठहराना या चलाना चाहे, उसी में ठहरा वा चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है असत्य में कभी नहीं। और तब ही मोक्ष का भागी होता है।'[६]

ईशादि प्रणान उपनिषदों में प्रत्याहार नाम लेकर इसकी चर्चा नहीं की गयी है किन्तु शाण्डिल्योपनिषद् में प्रत्याहार का विस्तार से वर्णन करते हुए इसके पांच भेद गिनाये गये हैं (१) विषयों में विचरने वाले इन्द्रियों को बल पूर्वक रोकना[७] यहां पर यह अवधेय है कि इन्द्रियों को विषयों से हटाने के लिए यत्न तो अवश्य करना पड़ता है किन्तु केवल बलपूर्वक रोकने से ही

१. कुमार १.५९
२. शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये, यो० सू० २.५५ पर व्या० भा०
३. रागद्रेषाभावे सुखदुःखशून्यशब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्।
वही पृ० २७५
४. चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। वही, पृ० २७५
५. परमावश्यता त्वियं यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेन्द्रियवत्प्रयत्न-कृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति। व्या. भा० पृ० २७५
६. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृ० २०३
७. विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः। शाण्डिल्यो० १.६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्याहार सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए मन पर अंकुश लगाना जरूरी है। यदि मन से विषयों का ध्यान करते हुये कर्मेन्द्रियों को बलपूर्वक विषयों से हटा लिया जाता है तो गीता की परिभाषा में वह मिथ्याचार ही है।[1] (२) शाण्डिल्योपनिषद् में दूसरी परिभाषा दी गयी है कि जो-जो भी देखा जाए, उसे आत्मा के रूप में ही देखा जाए, यह प्रत्याहार है। (३) नित्य तथा विहित कर्मों के फल त्याग को भी इस उपनिषद् में प्रत्याहार माना गया है, [2] यह परिभाषा ईशोपनिषद् के उसी मन्त्र के अनुसार प्रतीत होती है जिसमें कहा है कि 'न कर्म लिप्यते नरे'। फल की इच्छा को छोड़ने पर ही कर्म व्यक्ति में लिप्त नहीं होते। इसी प्रकार 'जो-जो भी देखा जाए, उसे आत्मा के रूप में देखा जाए' प्रत्याहार की यह परिभाषा भी ईशोपनिषद् के इस मन्त्र से अनुप्राणित है · जो सभी भूतप्राणियों को अपनी आत्मा में देखता है तथा सभी प्राणियों में अपने आपको देखता है, वह विचिकित्सा को प्राप्त नहीं करता।[3] (४) शाण्डिल्योपनिषद में चतुर्थ परिभाषा दी गयी है कि सभी विषयों से पराङ्मुख होना प्रत्याहार कहलाता है।[4] इस उपनिषद् द्वारा प्राप्त प्रत्याहार की यह परिभाषा योगसूत्र (२.५४) 'स्वविषयासम्प्रयोगे' के अनुसार ही है। (४) इनके अतिरिक्त इस उपनिषद् में प्रत्याहार की एक अन्य विचित्र सी परिभाषा भी दी गयी है कि पैर, अंगूठा, जंघा, जानु आदि अठारह स्थानों में क्रमशः धारणा करना ही प्रत्याहार है।[5] उपनिषद्कार की यह परिभाषा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होती। इसमें धारणा तथा प्रत्याहार को मिला दिया गया है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में भी विषयों से इन्द्रियों को हटाना प्रत्याहार कहा गया है।[6]

---

१. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। गीता ३.६

२. नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। वही १.६८।

३. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ।। ईशो० १.६१

४. सर्वविपयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। शाण्डिल्यो. १.६८

५. अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः। वही १.६८

६. इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः। मण्डल ब्राह्मणो० पृ० ३४७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

धारणा, ध्यान, समाधि, आत्मा

धारणा

पतञ्जलि के अनुसार किसी भी देश विशेष में चित्त को बांधने अथवा स्थिर करने को धारणा करते हैं।[1] योगभाष्यकार व्यास तथा वृत्तिकार भोज दोनों ने ही देश विशेष का अर्थ शरीर के बाह्य अथवा आभ्यन्तर अंग किया है। उन्होंने इन स्थानों के रूप में नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मूर्ध्नज्योति नासिका का अग्रभाग तथा जिह्वाग्र इत्यादि शरीर के अंगों का ही उल्लेख किया है।[2] अभिप्राय यह है कि प्रत्याहार के द्वारा विषयों से रोके गए चित्त को शरीर के विभिन्न प्रदेशों में लगाकर स्थिर किया जाता है, यही धारणा कहलाती है। इसी प्रसंग में पतंजलि ने सूर्य, चन्द्र तथा ध्रुव में संयम करने बात भी कही है।[3] प्रसंग को देखते हुए यह निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि पतंजलि का अभिप्राय बाह्य सूर्य आदि में संयम करना न होकर शरीर-के अवयवों में संयम करना ही है। इसीलिए व्यास जी ने सूर्य का अर्थ सूर्य द्वारे किया है[4] योगभाष्य के व्याख्याकार हरिहरानन्दारण्य ने सूर्यद्वार का अर्थ

---

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। यो० सू० ३.१

२. (क) नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येव-मादिषु देशेषु चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्धो धारणा। व्या०भा० पृ० २७८

(ख) देशे नाभिचक्रनासादौ चित्तस्य बन्धो विषयान्तरपरिहारेण यत्स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धारणोच्यते। भोजवृत्ति पृ० २७९

३. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।
यो० सू० ३.२६-२८

४. एतद् योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा। व्या० भा० पृ० ३४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुषुम्णाद्वार तथा चन्द्र का अर्थ चन्द्रद्वार किया है।[१] इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि चित्त की धारणा के लिए निर्धारित देशविशेष शरीर के ही अवयव हैं, अन्यत्र नहीं। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार विषयों से हटाते हुए चित्त को चैतन्य में स्थिर करना धारणा कहलाती है।[२] धारणा के द्वारा मन स्थिरता को प्राप्त कर लेता है।[3]

उपनिषदों में विस्तार से ध्यान की विधि एवं ध्यान करने के स्थानों का वर्णन प्राप्त होता है इसका उल्लेख ध्यान के प्रसंग में किया जाएगा। एक प्रकार से ध्यान की पूर्वावस्था ही धारणा है इसलिए उपनिषदों में ध्यान के वर्णन द्वारा ही धारणा का महत्त्व भी समझा जा सकता है। श्वेताश्वर उपनिषद् में स्पष्ट रूप में भी कहा गया है कि विद्वान् पुरुष मन को उसी प्रकार धारण करे जैसे कि दुष्ट अश्व को वश में किया जाता है।[४] स्पष्ट है कि इस प्रकार यहाँ पर धारणा का ही उल्लेख किया गया है।

ईशादि प्रधान उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में तो विस्तार से धारणा का वर्णन प्राप्त होता है। योगतत्त्वोपनिषद् में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पाँचों धारणा के स्थल कहे हैं किन्तु यहाँ पर स्वयं ही पृथिवी आदि का अभिप्राय शरीर के ही विभिन्न अंग मानते हुए कहा गया है कि पैरों से जानु पर्यन्त भाग को पृथिवी कहते हैं। जानु से पायु पर्यन्त भाग जलस्थान कहलाता है। पायु से हृदय तक का भाग अग्नि स्थान कहलाता है। हृदय से भ्रू तक का भाग वायु स्थान तथा भ्रू के प्रारम्भ से भ्रू के अन्त तक का भाग आकाश कहलाता है। इन स्थानों में धारणा कहने से पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु के संयोग से योगी की मृत्यु नहीं होती तथा वह आकाशगामिता को प्राप्त करता है।[५] जाबालदर्शनोपनिषद् में भी धारणा के इसी प्रकार पांच भेद करते हुए उपर्युक्त पृथिवी आदि पांचों स्थानों में धारणा का विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त यहां पर यह भी कहा गया है

१. सूर्यद्वारे सुषुम्णाद्वारे। चन्द्रे चन्द्रद्वारे। उक्तं च तालुमूले च चन्द्रमाः। भास्वती ३४६-३७

२. विषयव्यावर्त्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतः स्थापनं धारणा। मण्डल० ब्राह्मण १

३. धारणाभिर्मनो धैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्। योग चूडा० ११०

४. दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेत्ताप्रमतः। श्वेता० २।९

५. योगतत्त्वोप० ८६-१०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि सर्वकारण, अव्यक्त परमेश्वर को आत्मा में धारण करे तथा इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन में लगाना, यह भी धारणा कहलाती है[1]। शाण्डिल्योपनिषद् में इन सबके मिले-जुले रूप में धारणा के तीन प्रकार कहे हैं। आत्मा में मन को लगाना, दहराकाश में बाह्याकाश को लगाना तथा पृथिवी आदि पञ्चभूतों में पञ्चमूर्ति की धारणा करना[2]। दत्तात्रेय योगशास्त्र में योगतत्त्वोपनिषद् के समान ही पृथिवी, जल आदि के भेद से पांच प्रकार की ही धारणा मानी है। इसमें इन विभिन्न धारणाओं के स्थान भी शरीर के विभिन्न अवयव मानते हुए, इन धारणाओं के फल भी योगतत्त्वोपनिषद् के समान ही माने गए हैं[3]। इस प्रकार दत्तात्रेय योग शास्त्र तथा योगतत्त्वोपनिषद् के धारणा सम्बन्धी इस प्रकरण में अक्षरशः समानता है। डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने धारणा का विश्लेषण कुछ दूसरे रूप में किया है। उन्होंने सगुण तथा निर्गुण के रूप में दो प्रकार की धारणा मानी है। सगुण धारणा का अर्थ है—परमेश्वर की आकृति का मन से चिन्तन करना तथा निर्गुण धारणा कई प्रकार की है—(१) **स्मरण धारणा**—परमात्मा के गुणों का स्मरण (२) **नामधारणा**—ॐकार का जप आदि। (३) **क्रिया धारणा**—उपनिषदों में सूर्य, चन्द्र आदि में ब्रह्म की क्रियाओं को देखने की बात कही गई है। (४) **शक्ति धारणा**—परमात्मा की विभिन्न शक्तियों का चिन्तन करना (५) **भाव धारणा**—परमेश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करना[4]।

ध्यान

शरीर के जिन-जिन देशों (स्थानों) में धारणा का विधान किया गया है, उन्हीं स्थानों में चित्त की एकतानता=एकाग्रता को ध्यान कहते हैं।[5] ध्यान

---

१. सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यचेतनम्।
साक्षादात्मनि सम्पूर्णं धारयेत्प्रणवेन तु॥ जाबालदर्शन० ८।६

२. अथ धारणा। सा त्रिविधा-आत्मनि मनो धारणं, दहराकाशे बाह्याकाश धारणं, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्त्तिधारणं चेति।
शाण्डिल्यो० १.७०

३. दत्तात्रेय योग शास्त्र, केशवानन्द योगसंस्थान १९८२, श्लोक २२७-२४२

४. राजयोग और साधना, सम्पा० डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, स० २०४२, पृ० १६३-१६६

५. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो० सू० ३.२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्थिति में चित्तवृत्तियां पूर्णतः निरुद्ध रहती हैं। तब केवल ग्रहीता, ग्राह्य तथा ग्रहण का ही सूक्ष्म रूप में भान रहता है, अन्य का नहीं।[1] मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् में भी इसी प्रकार चैतन्य में एकतानता को ध्यान कहा गया है।[2]

ईशादि प्रधान उपनिषदों तथा अन्य उपनिषदों में भी ध्यान का प्रतिपादन विस्तार के साथ किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्यान उपनिषदों का प्रधान विषय रहा है। इनमें ध्यान के द्वारा आत्मदर्शन की बात कही गयी है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञानप्रसाद के द्वारा विशुद्धसत्व होकर ध्यान करता हुआ आत्मा को देखे।[3] उपनिषदों में प्रायः ओंकार ध्यान का विधान किया गया है। प्रश्नोपनिषद् में ओंकार ध्यान के सम्बन्ध में ओंकार की एक, दो तथा तीन मात्राओं के ध्यान तथा उनके फलों का पृथक्-पृथक् वर्णन स्पष्टता के साथ उपलब्ध होता है।[4] श्वेताश्वर उपनिषद् में ध्यान करने का प्रकार बतलाया गया है कि सिर, ग्रीवा तथा कमर को बिल्कुल सीधा करके इन्द्रियों को हृदय में स्थापित करके ध्यान करे। इसी प्रकार कैवल्योपनिषद् में कहा गया है कि एकान्त देश में सुखासन पर बैठकर पवित्र होकर सिर, ग्रीवा तथा शरीर को एक सीध में करके हृदयकमल में अचिन्त्य अव्यक्त, अनन्त तथा शान्त स्वरूप शिव का ध्यान करे।[5] ब्रह्मविद्योपनिषद् में ध्यान करने का स्थान भ्रूमध्य बतलाया गया है।[6] व्यासभाष्य में धारणा के प्रसंग में विविध स्थलों का उल्लेख करते हुए भ्रूमध्य को भी धारणा का स्थल माना गया है। धारणा के स्थल ही ध्यान के स्थल हैं। योगशिखोपनिषद् में सुषुम्णा में ध्यान करने को सर्वश्रेष्ठ मानकर कहा गया है कि यह ध्यान हजारों अश्वमेधादि की अपेक्षा भी उत्कृष्ट है।[7]

---

१. तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टः ध्यानम्। यो० सू० ३.२ पर व्या० भा० पृ० १०५
२. सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम्। मण्डलब्राह्मणो० पृ० ३४७
३. ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्येत् निष्कलं ध्यायमानः। मुण्डको० १.८
४. यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत० प्रश्नो० ५.५
५. कैवल्योप० श्लो० ५-६।
६. ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा। ब्रह्मविद्योप० श्लो० ८०
७. अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
सुषुम्णाध्यानयोगस्य नार्हन्ति षोडशीम्। योगशिखो० श्लो० ४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हंसोपनिषद् में कुछ विस्तार से ध्यान की प्रक्रिया इस प्रकार बतलायी गयी है कि मूलबन्ध लगाकर क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूरक तथा अनाहद चक्रों को पार करके विशुद्धचक्र में प्राणों को रोककर आज्ञाचक्र में तथा ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करे।[1] योगतत्त्वोपनिषद् में दो प्रकार का ध्यान कहा गया है—सगुण तथा निर्गुण। प्राणायाम द्वारा वायु को रोककर अपने इष्ट देवता का ध्यान करना सगुण ध्यान कहलाता है। इस ध्यान के द्वारा अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निर्गुण ध्यान के द्वारा समाधि लाभ होता है।[2] शाण्डिल्योपनिषद् में भी इसी प्रकार ध्यान के दो भेद करते हुए मूर्त्ति के ध्यान को सगुण ध्यान कहा है तथा आत्मास्वरूप दर्शन को निर्गुण ध्यान माना है।[3]

वस्तुतः साधकों में ध्यान की सगुण तथा निर्गुण दोनों ही विधियाँ प्रचलित हैं। जो मूर्ति आदि के रूप में सगुण ध्यान करते हैं वे भी इसको प्रारम्भिक अवस्था मानकर बाद में इसे छोड़कर निर्गुण ध्यान करने लगे हैं। उनका तर्क है कि प्रारम्भ में चित्त चलायमान होने के कारण निराकार का ध्यान नहीं कर सकता इसलिए साकार कि वा सगुण ध्यान किया जाता है। उक्त कथन योग दर्शन से मेल नहीं खाता क्योंकि पतंजलि ध्यान से पूर्व धारणा को आवश्यक बतला रहे हैं। धारणा द्वारा ही इधर-उधर भागने वाले चित्त को एक स्थान पर एकाग्र किया जाता है। इसके बाद ही ध्यान की बारी आती है। अतः उक्त तर्क कोई महत्त्व नहीं रखता। महर्षि दयानन्द सगुण ध्यान में एक अन्य दोष यह भी देते हैं कि साकार के आकार में ही चित्त इधर-उधर भटकता रहेगा फलतः सम्यक्तया ध्यान न हो पायेगा। अतः निराकार अथवा निर्गुण ध्यान ही ठीक है।

समाधि

योग का अन्तिम अंग समाधि है। इसका स्वरूप बतलाते हुए पतंजलि कहते हैं कि जब ध्यान ही अर्थमात्र से निर्भासित होता है तथा स्वरूप से शून्य-सा हो जाता है, तब उसी प्रत्ययैकतानता रूप ध्यान को समाधि कहते हैं।[4]

---

१. हंसोपनिषद् पृ० १४७

२. सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम्।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्। योगतत्वोप० श्लो० १०६

३. सगुणं मूर्त्तिध्यानम् निर्गुणमात्मयाथात्म्यम्। शाण्डिल्यो० १.७१

४. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो० सू० ३-३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थमात्र से निर्भासित होने का अभिप्राय है कि केवल ध्येय के रूप में उसकी प्रतीति होती है।[1] ध्यान तथा ध्याता की प्रतीति से रहित होने को ही सूत्र में 'स्वरूपशून्यम्' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि ध्यान में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय इन तीनों की प्रतीति होती है जबकि समाधि में ध्येय मात्र की। योग-तत्त्वोपनिषद् में समाधि को जीवात्मा तथा परमात्मा की समतावस्था कहा गया है।[2]

समाधि के भेद योगदर्शन में समाधि के दो भेद किए गए हैं—सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात। इनमें सम्प्रज्ञात समाधि सालम्ब्य होती है अर्थात् इसमें ग्राह्य ग्रहण अथवा गृहीतृ रूप कोई न कोई आलम्बन अवश्य रहता है इसीलिए इसे सवीज समाधि भी कहते हैं जबकि असम्प्रज्ञात समाधि में कोई भी आलम्बन नहीं रहता इसीलिए इसको निर्वीज समाधि कहते हैं। क्योंकि यह किसी ध्येय को बीज रूप में आलम्बन वनाकर नहीं की जाती।

सम्प्रज्ञात समाधि—सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की है—(१) वितर्कानुगत (२) विचारानुगत (३) आनन्दानुगत तथा (४) अस्मितानुगत।

इन चारों समाधियों में वितर्क समाधि चतुष्ट्यानुगत है अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता से युक्त है। विचारानुगत समाधि त्रितयानुगत अर्थात् विचार, आनन्द तथा अस्मिता से अनुगत है। इसमें स्थूल भूतों का भान नहीं होता अतः यह वितर्क से रहित है। तृतीय आनन्दानुगत समाधि द्वयानुगत अर्थात आनन्द तथा अस्मिता से अनुगत है। इस अवस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के भूतों का भान नहीं होता अतः यह वितर्क तथा विचार से रहित है। चतुर्थ अस्मितानुगत समाधि एकानुगत है क्योंकि इसमें अस्मिता मात्र के सिवाय किसी अन्य का भान नहीं होता हैं।[3] इनमें से सवितर्क तथा निर्वितर्क स्थूल पदार्थ विषयक तथा सविचार, निर्विचार सूक्ष्म पदार्थ विषयक हैं।[4]

---

१. ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासप्रत्ययात्मकत्वेन स्वरूपेण शून्यमिव०
व्या० भा० पृ० १

२. समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः। योगतत्त्वो० श्लो० १०६

३. तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्वे एते सालम्बनाः समाधयः। व्या० भा० पृ० २०

४. तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति।
वही, पृ० ४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) **वितर्कानुगत समाधि** यह ग्राह्य रूप है पाँचों स्थूलभूत तथा स्थूल इन्द्रियां इसके विषय हैं अर्थात् इसमें किसी स्थूल विषय, महाभूत, सूर्य, चन्द्र, शरीर तथा स्थूल इन्द्रिय आदि पर चित्त को टिकाकर उसके यथार्थ स्वरूप का दिव्यादिव्य रूप में साक्षात् किया जाता है। इसमें संशय तथा विपर्यय नहीं रहता। इसके भी दो भेद हैं—(१) सवितर्क = शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की भावना सहित तथा (२) निर्वितर्क = शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की भावना से रहित, केवल अर्थमात्र।

(२) **विचारानुगत समाधि**—यह भी ग्राह्यरूप है किन्तु इसमें सूक्ष्म भूतों का, पाँचों तन्मात्राओं का तथा सूक्ष्म इन्द्रियों का साक्षात्कार किया जाता है। यह साक्षात्कार भी संशय विपर्यय रहित होता है। इसके भी दो भेद हैं – (१) सविचार तथा (२) निर्विचार। देशकाल तथा धर्म की भावना से युक्त सविचार कहलाती है तथा इन भावनाओं से रहित केवल अर्थ मात्र धर्मी होने पर निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

(३) **आनन्दानुगत समाधि**—इसमें अहंकार का साक्षात्कार होता है। अहंकार में सत्य की वहुलता तथा सत्य में ही आनन्द उपलब्ध होता है। अतः इस वृत्ति में 'अहमस्मि' इस अहंकार वृत्ति द्वारा आनन्द का ही अनुभव होता है। यह समाधि ग्रहण रूप है। इसमें 'अहमस्मि' यह अनुभव होता है।

(४) **अस्मितानुगत समाधि**—अस्मिता ही अहंकार का कारण है। यह अहंकार से भी सूक्ष्म है। इस समाधि में अस्मिता का ही साक्षात्कार होता है। इसमें अहंवृत्ति छुटकर केवल 'अस्मि' यही शेष रह जाता है। ये चारों ही सम्प्रज्ञात समापत्ति कहलाती हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि अपर वैराग्य के द्वारा प्राप्त होती है। दृष्ट तथा अदृष्ट विषयों के प्रति सर्वथा तृष्णारहित हो जाने को अपर वैराग्य कहते हैं। दृष्ट विषय का अर्थ है लोक में देखे जाने वाले शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, ऐश्वर्य, धनसम्पत्ति, खान-पान, स्त्री आदि। वेद तथा शास्त्रों द्वारा सुने गए विषय आनुश्रविक कहलाते हैं। ये दो प्रकार के हैं (१) शरीरान्तर में अनुभव किये जाने वाले यथा देवलोक, स्वर्ग, विदेह, प्रकृतिलयत्व आदि तथा (२) अवस्थान्तर में अनुभव किए जा सकते वाले। यथा—दिव्यगन्ध, दिव्यरस आदि।

इस प्रकार इन दृष्ट तथा आनुश्रविक विषयों के अन्तर्गत समस्त लौकिक एवं पारलौकिक विषय आ गये। अपर वैराग्य को प्राप्त करके इनमें से किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी विषय के प्रति आसक्ति नहीं रहती । यदि कोई व्यक्ति इन विषयों के प्रति आसक्त है तो समझना चाहिए कि उसका अपर वैराग्य अभी सिद्ध नहीं हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आनन्द की मीमांसा करते हुए कहा गया है कि यदि एक युवा दृढ़ बलिष्ठ व्यक्ति के पास सम्पूर्ण पृथिवी धन-धान्य से परिपूर्ण हो तो उसे मानुष आनन्द कहते हैं। ऐसे सैकड़ों मानुष आनन्द मिलकर मनुष्य गन्धर्वों का एक आनन्द होगा। मनुष्य गन्धर्वों के सौ आनन्द मिलकर पितरों का एक आनन्द होगा। पितरों के इस प्रकार के सौ आनन्द मिलकर आजानज देवों का एक आनन्द होगा। आजानज देवों के सौ आनन्द मिलकर कर्म देवों का एक आनन्द होगा। कर्मदेवों के सौ आनन्द मिलकर देवों एक आनन्द होगा। इस प्रकार उपनिषद् तो क्रमशः ब्रह्म के आनन्द तक जाती है।[1] इस प्रसंग में हमें इतना ही देखना है कि योगदर्शन में दृष्टादृष्ट के रूप में मनुष्यों के जिन-जिन सुखों की कल्पना की गई है उसे ही उपनिषद् में मानुष आनन्द कहा गया है।

अपर वैराग्य के भेद—अपर वैराग्य के चार भेद हैं। यतमान, व्यतिरेक एकेन्द्रिय तथा वशीकार। इनमें से अन्तिम - वशीकार संज्ञक वैराग्य ही वृत्तियों के निरोध का हेतु बनता है, अन्य नहीं।

(१) **यतमान**—रागद्वेष आदि चित्त दोषों के कारण ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवर्त्तित होती हैं। इन दोषों का बार-बार चिन्तन करना जिस से कि ये इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त न कर सकें, यतमान संज्ञक वैराग्य है।

(२) **व्यतिरेक**—चिन्तन करते-करते यह निश्चय करना कि कितने दोष दूर हो चुके हैं तथा कितने अभी शेष हैं। इस प्रकार निवृत्त तथा वर्तमान चित्तमलों का पृथक्-पृथक् ज्ञान करना व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य है।

(१) **एकेन्द्रिय** - जब रागद्वेष आदि चित्तमल इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त कराने में असमर्थ होने पर भी सूक्ष्म रूप से मन में बने रहें, तब एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य कहलाता है।

(४) **वशीकार**—चित्त में सूक्ष्मरूप में विद्यमान दोष भी जब नष्ट हो जाएं तथा दिव्यादिव्य भोगों के उपस्थित होने पर भी उनके प्रति आसक्ति न हो तब वशीकार संज्ञक वैराग्य कहलाता है।

---

१. तैतिरीयो० २.८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक ख्याति भी एक वृत्ति ही है तथा चित्त का कार्य है। इसमें भी राग के न रहने को अपर वैराग्य कहते हैं[1]। पर वैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। पर वैराग्य का यह क्रम है—प्रसंख्यान अर्थात् क्रम से स्थित जो तत्त्व हैं उन सबके रूप का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके जब योगी को तत्त्वों में वितृष्णा अथवा फलप्राप्ति की अनिच्छा हो जाती है तब योगी को ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् विवेकख्याति सब प्रकार से दृढ़ हो जाती है। विवेक ख्याति की इसी स्थायी अवस्था का नाम धर्ममेघ समाधि है। यह समाधि अशुक्ल तथा अकृष्ण धर्म को वर्षाती है इसलिए इसका नाम धर्ममेघ है[2]।

अध्यात्मोपनिषद् तथा पैङ्गलोपनिषद् में समान रूप में धर्ममेघ समाधि की चर्चा की गई है। अध्यात्मोपनिषद् में कहा गया है कि ध्याता तथा ध्यान को छोड़कर जब चित्त वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की भांति ध्येय-मात्र परायण हो, तब यह समाधि होती है। इस समाधि के प्राप्त हो जाने पर अनादि काल से संचित कर्मवासनायें विलीन हो जाती हैं। तब शुद्ध धर्म वृद्धि होती है। यह समाधि हजारों अमृत धाराओं की भांति धर्म का वर्षण करती है[3]। पैङ्गलोपनिषद् में भी इसी प्रकार कहा गया है कि धर्ममेघ समाधि के द्वारा वासनाजाल तथा कर्मसंचय को नष्ट कर दिए जाने पर जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है[4]।

धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा पर वैराग्य है।[5] इसे ज्ञानप्रसाद भी कहते हैं।[6] इस पर वैराग्य अथवा ज्ञान प्रसाद का फल असम्प्रज्ञात समाधि है।

---

१. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। यो० सू० ३।१६।

२. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघसमाधिः।
यो० सू० ४।२९

३. धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः। वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्रशः। अध्यात्मो० श्लो० ३८।

४. ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः। वासनाजालं निःशेषममुना प्रविलापिते कर्मसंचये पुण्यपापे समूलोन्मूलितेव। पैङ्गलो०, पृ० ४२५।

५. धर्ममेघस्य परकाष्ठा ज्ञानप्रसादमात्रं परं वैराग्यम्। तत्त्ववैशारदी पृ० १८१

६. तद् द्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तत् ज्ञानप्रसादमात्रम्। व्या० भा० पृ० १८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम सीमा = पराकाष्ठा कैवल्य है।[1] असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में चित्त सर्ववृत्ति शून्य हो जाता है तथा पुरुष स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाता है।[2] असम्प्रज्ञात को ही निर्वीज समाधि भी कहते हैं क्योंकि अविद्या आदि क्लेश सहित कर्माशय ही जाति, आयु तथा भोग का बीज है। यह कर्माशय पूर्णतः नष्ट हो जाने से इसे निर्वीज कहते हैं।[3] इस अवस्था में कुछ भी नहीं जाना जाता। इसीलिए इसे असम्प्रज्ञात कहते हैं—तत्र न किञ्चित्संप्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः।

असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में चित्त वृत्तियों से सर्वथा शून्य हो जाता है।[4] इस समय चित्त में वृत्तियों को हटाने वाला निरोध का परिणाम रहता है। इस अवस्था में व्युत्थान तथा निरोध के संस्कारों का अभिभव तथा प्रादुर्भाव होता है। आशय यह है कि निरोध के संस्कार व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट करते जाते हैं। ज्यों-ज्यों व्युत्थान के संस्कार नष्ट होते जाते हैं त्यों-त्यों यह समाधि दृढ़ होती जाती है। व्युत्थान के समस्त संस्कारों को नष्ट करने पर निरोध के संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं।[5] यह उसी प्रकार होता है जैसेकि सीसा सुवर्ण के मल को जलाकर स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इस समय निरोध संस्कार के कारण चित्त की प्रशान्तवाहिता की स्थिति होती है।[6] यही कैवल्य मुक्ति है। बृहदारण्यकोपनिषद् में इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है—योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (बृहदा. ४।६।६) अर्थात् जो कामनाओं से रहित है जिसकी काम-

---

१. ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव नान्तरीयकं कैवल्यमिति।
वही, पृ० १९

धर्ममेधभेद एव परं वैराग्यं नान्यत्। तत्त्ववैशारदी पृ० १९

२. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। यो० सू० १।३

इस पर व्यास भाष्य—स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये।

३. क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगबीजम्। तस्मान्निर्गत इति निर्वीजः। तत्त्व वैशारदी, पृ० ६।

४. सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः। व्या० भा० पृ० ३

५. तयोरभिभवप्रादुर्भावौ। व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते। वही, १०८

६. तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। यो० सू० ३.१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायें समाप्त हो चुकी है तथा जिसकी कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं अथवा जिसको केवल आत्मा की कामना है, उसके प्राण तथा इन्द्रियाँ नहीं निकलते। वह ब्रह्म भूत होकर ब्रह्म को ही प्राप्त करता है। योगदर्शन के अनुसार सर्ववृत्ति रहित योगी के लिए ही यहाँ पर उपनिषद् में अकाम तथा निष्काम पद आये हैं तथा आप्तकाम उस अवस्था वाले योगी के लिए आया है जब विवेकख्याति के उदय के बाद योगी इस प्रकार समझने लगता है कि मैंने प्राप्तव्य (कैवल्य) को प्राप्त कर लिया है। क्षेतव्य (अविद्यादि क्लेशों) को क्षीण कर दिया है तथा संसार क्रम को उच्छिन्न कर दिया है।[1]

सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था निर्विचार होती है। निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था रजस्-तमस् रूपी अशुद्धि का नाश होने, सत्त्वगुण की प्रधानता से प्रकाश स्वरूप बुद्धि का रजस् तथा तमस् से अभिभूत न होने वाला स्वच्छ स्थिरता रूप प्रवाह निरन्तर बहता है। इसी को वैशारद्य कहते हैं। निर्विचार समाधि का यह वैशारद्य होने पर अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है।[2] अर्थात् निर्विचार समाधि के वैशारद्य को प्राप्त करके योगी प्रकृति पर्यन्त सभी पदार्थों का एक ही काल में साक्षात्कार कर लेता है। इसे ही अध्यात्म प्रसाद कहते हैं। इसी का दूसरा नाम स्फुट प्रज्ञालोक तथा प्रज्ञाप्रसाद भी कहते हैं। इस अध्यात्म प्रसाद को प्राप्त कर लेने पर योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है।[3] यह प्रज्ञा केवल ऋत को ही धारण करती है। इसमें भ्रान्ति, विपयर्य तथा अविद्या आदि का लेश भी नहीं होता। इस प्रज्ञा से ही सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार होता है इसीलिए यह प्रज्ञा श्रुत तथा अनुमान विषयक प्रज्ञा से पृथक् तथा उत्कृष्ट होती है। इस प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार व्युत्थान के संस्कारों को रोकने वाला होता है।[4] इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से निरोध संस्कार होता है। निरोध संस्कार से पुनः ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रकर्ष, प्रज्ञा प्रकर्ष से फिर निरोध संस्कार का प्रकर्ष, इस प्रकार चक्र

---

१. तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते-प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्या क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः।
व्या० भा० पृ० १६

२. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। यो० सू० १.४७

३. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। यो० सू० १.४८

४. तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। वही, १।५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलकर निरोध के संस्कार पुष्ट होकर व्युत्थान के संस्कारों को सर्वथा रोक देते हैं। पर वैराग्य द्वारा यह ऋतम्भरा प्रज्ञा जन्य संस्कार भी नष्ट हो जाता है। इस संस्कार के नष्ट हो जाने पर निर्बीज अथवा असम्ज्ञात समाधि होती है। पर वैराग्य द्वारा समस्त वृत्तिप्रवाह तथा संस्कार प्रवाह का निरोध हो जाता है। इसे ही निर्बीज समाधि कहा गया है। इसलिए चित्त निरोध अवस्था में समाप्त अधिकार वाला होकर संस्कारों से निवृत्त हो जाता है। इस चित्त के निवृत्त होने से पुरुष अपने शुद्ध परमात्मा स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर केवल शुद्ध तथा मुक्त कहा जाता है।[1] शाण्डिल्योपनिषद् में भी समाधि का यही स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि यह जीवात्मा तथा परमात्मा की ऐक्यावस्था है। इसमें धारणा, ध्यान, समाधि नामक त्रिपुटी नहीं रहती अपितु केवल शुद्ध चैतन्य ही ध्येय रूप में अवस्थित रहता है। यह परमानन्द स्वरूप है।[2] मैत्रायणी उपनिषद् में कहा गया है कि समाधि के द्वारा मल नाश होने पर जो सुख आत्मा को होता है वह वर्णन का विषय नहीं है। वह तो स्वयं अनुभूति का विषय है, उसे कहकर नहीं बतलाया जा सकता।[3]

आजकल ऐसे अनेक व्यक्ति सुने जाते हैं जो एक-एक महीने तक के लिए किसी गुफा या कमरे में बन्द हो जाते हैं। गुफा को पूर्णतः बन्द करके, ताला लगाकर पहरेदार बैठा दिया जाता है। खान-पान, स्नान, शौच आदि दैनिक कार्य भी वे नहीं करते। इस अवस्था को वे समाधि का नाम देते हैं। योगसूत्रों में ऐसी किसी भी समाधि का वर्णन नहीं है। योगदर्शन के अनुसार तो योग के आठों अंगों का अभ्यास करते हुए ही सबके अन्त में समाधि की अवस्था आती है। यहाँ पर यह भी अवधेय है कि योगदर्शन के अनुसार समाधि को प्राप्त पुरुष की सभी इच्छायें, कामनायें, वासनायें विलीन हो चुकती हैं जबकि प्रदर्शनार्थ उक्त तथा कथित समाधि लगाने वाले व्यक्तियों का जीवन अन्य

---

१. यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं विनिवर्तते तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते।
व्या० भा० पृ० ५०

२. अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति। शाण्डिल्यो १.६२

३. समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्
न शक्यते वर्णायितुं गिरा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥ मैत्रायणी ६.२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तियों के समान ही रागद्वेष, वासना आदि से युक्त दिखलायी देता है। इससे यहाँ पर यह सन्देह होना स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार की समाधियों को वास्तविक समाधि कहना चाहिए या नहीं। उक्त सन्देह को इससे भी बल मिलता है कि इस प्रकार की समाधियाँ लगाने वाले छल कपट से भी काम लेते हैं। सभी व्यक्तियों के सो जाने अथवा चले जाने पर वे खान-पान, मल-मूत्र आदि आवश्यक कार्य कर लेते हैं। पहरेदार या तो उनका अपना ही व्यक्ति होता है या उससे वे मिल लेते हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखने में आया कि गुफा के अन्दर ही समाधिस्थ पुरुष की मृत्यु हो जाती है। ऐसा तभी होगा जब कि खान-पान आदि का अवकाश उसे न मिल पाता हो। जो गुफा में निश्चित अवधि तक बन्द रहकर जीवित दशा में वहाँ से बाहर निकलने में समर्थ होते हैं उनका शरीर भी पीला पड़ चुका होता है। रुई आदि में लपेटकर अति सावधानी पूर्वक उनको गुफा से निकाला जाता है। योगदर्शन में समाधिस्थ पुरुष अथवा समाधि के बाद इस प्रकार की दशा का वर्णन नहीं है। इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रकार की समाधियाँ योगदर्शन के अनुकुल न होकर दिखावा मात्र है। महर्षि दयानन्द अपना समाधि विषयक अनुभव इस प्रकार कहते हैं जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारकर थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है।[१] इससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि भूमि में गढ़ना अथवा गुफा में बन्द होना आदि को समाधि का नाम नहीं दिया जा सकता।

निर्वीज समाधि की प्राप्ति का क्रम—योग के यम-नियम आदि आठों अङ्गों के अनुष्ठान पूर्वक निर्वीज समाधि की प्राप्ति का यह क्रम है—सर्वप्रथम अहिंसा आदि यमों के द्वारा चित्त को हिंसा, असत्य, स्तेय आदि की भावना से सर्वथा रहित कर दिया जाता है। इसके साथ ही बाह्य शौच के द्वारा शरीर की शुद्धि तथा दूसरों के साथ असंसर्ग की भावना उत्पन्न होती है।[२] आन्तरिक शौच तथा तप द्वारा रजस्-तमस् रूपी अशुद्धि को चित्त से सर्वथा दूर करके शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त की जाती है।[३] प्राणायाम के द्वारा विवेकज्ञान

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृ० २०५
२. शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सापरैरसंसर्गः। यो० सू० २.४०
३. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। वही, २.४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ढकने वाले कर्म का क्षय कर दिया जाता है।[१] इससे मन धारणा के योग्य बन जाता है।[२] इसके साथ ही प्रत्याहार[३] की साधना द्वारा इन्द्रियों की परमा-वश्यता प्राप्त की जाती है।[४] तदनन्तर धारणा, ध्यान तथा सम्प्रज्ञात समाधि इन सबको एक विषय वाला होने पर इन तीनों की संयम संज्ञा होती है। इस संयम के जय से सम्प्रज्ञात समाधि प्रज्ञा का आलोक प्राप्त होता है।[५] जैसे-जैसे यह संयम दृढ़ होता जाता है वैसे-वैसे ही समाधि प्रज्ञा वैशारद्य = निपुणता को प्राप्त करती जाती है।[६] इस सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था निर्विचार समाधि का वैशारद्य प्राप्त होने पर अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है।[७]

अशुद्धि रूपी मल से छूटने पर प्रकाश स्वरूप बुद्धिसत्व का रज तथा तम से अभिभूत न होने वाला स्वच्छ स्थिति प्रवाह वैशारद्य कहलाता है।[८] इसी अध्यात्मप्रसाद को प्रज्ञालोक भी कहते हैं।[९] महाभारत में इसी को प्रज्ञाप्रसाद कहते हुए इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

(महा० शान्ति० १७.२०)

इस अध्यात्मप्रसाद के प्राप्त कर लेने पर समाहित चित्त की प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसे ऋतम्भरा कहते हैं।[१०] ऋतम्भरा के प्राप्त होने पर इससे उत्पन्न

---

१. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। यो० सू० २.५२
२. धारणासु च योग्यता मनसः। वही. २.५३
३. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपाकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः वही, २.५४
४. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। वही,
५. तज्जयात् प्रज्ञालोकः। वही, ३.५
६. यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति यो० सू० ३.५ पर व्यास भाष्य
७. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। यो० सू० १.४७
८. अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभि-भूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यो० सू० १.४७ पर व्या० भा०
९. योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमानुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः। वही,
१०. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। यो० सू० १.५०-५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कार व्युत्थान (सम्प्रज्ञात समाधि) के संस्कारों को दूर भगाता है।[१] इस प्रज्ञा से नये-नये संस्कारों का उदय होता है। इन संस्कारों से समाधि प्रज्ञा तथा समाधि प्रज्ञा से संस्कार, इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है।[२] अन्त में पर वैराग्य के द्वारा प्रज्ञाकृत संस्कार के भी निरुद्ध हो जाने पर सभी संस्कारों का निरोध होने से निर्वीज समाधि प्राप्त होती है।[3] इस अवस्था में सभी वृत्तियां विलीन हो जाती हैं। यह संस्कार शेष अवस्था है। इसे ही असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।[४] इस समाधि का उपाय परवैराग्य है।[५] अर्थात् यह पर-वैराग्य के उपरान्त प्राप्त होती है, अपर वैराग्य से नहीं। यह परवैराग्य की अवस्था है। इस अवस्था में प्रकृति पुरुष विषयक विवेकज्ञान का उदय होने से गुणों में वितृष्णा हो जाती है।[६] यही ज्ञान की पराकष्ठा है। कैवल्य इस अवस्था के बिल्कुल पास में ही है।[७] 'ज्ञानान्मुक्ति' तथा 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' आदि उक्तियां इसी अवस्था के लिए कही गई है।

यह चित्त की निरुद्धावस्था है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार निरोध; ज्ञान-प्रसाद तथा परवैराग्य तीनों समानार्थक हैं।[८]

आत्मा—आत्मा के सम्बन्ध में आत्मवादी तथा अनात्मवादी दो प्रकार की विचारधारा प्राप्त होती है। अनात्मवादियों में चार्वाक आदि हैं जो कि शरीर से अतिरिक्त आत्मा जैसी किसी चेतन सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते।

---

१. वही,

२. ततः समाधिजा प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवसंस्काराशयो जायते। ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति।
यो० सू० १.५० पर व्या० भा०

३. तस्यापि निरोधे सर्वसंस्कारनिरोधान्निर्वीजसमाधिः। यो० सू० १।५१

४. विरामप्रत्याभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। यो० सू० १.१८

५. तस्य परं वैराग्यमुपायः। यो० सू० १.१८ पर व्या० भा०

६. तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। यो० सू० १.१६

७. तद्द्वयं वैराग्यम् तत्र यदुत्तर तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।
यो० सू० १.१६ पर व्या० भा०

८. निरुध्यतेऽनेनेति निरोधो ज्ञानप्रसादः परवैराग्यम्।
यो० सू० ३.६ पर त० वैशा०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने वालों में आत्मा के स्वरूप को लेकर अनेक मत हैं। यथा—जीवात्मा अनादि, नित्य तथा संख्या में अनन्त हैं। प्रत्येक जीवात्मा स्वतन्त्रकर्म करने वाला तथा अपने कर्मफल का भोक्ता है। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है। जिस प्रकार घटाकाश मठाकाश की स्वतन्त्र सत्ता भी होती है किन्तु वे एक बृहदाकाश का ही भाग होते हैं। जैसे घट के टूटने पर घटाकाश का अस्तित्व महाकाश में विलीन हो जाता है अथवा जिस प्रकार पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखने वाली नदियाँ भी समुद्र में विलीन होकर अपना नाम रूप खो देती हैं उसी प्रकार मुक्ति के उपरान्त जीवात्मा भी अपने नाम रूपों को छोड़कर ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। वेदान्ती लोग इस विचारधारा वाले हैं। इसके अतिरिक्त बौद्धों का भी एक पक्ष है कि जीवात्मा कूटस्थ अपरिणामी न होकर प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।

योगदर्शन में ऐसा कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता जिससे यह सिद्ध हो सके कि जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है तथा मुक्ति के पश्चात् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। पतंजलि ने योगसूत्रों में स्पष्टतः तीन पदार्थों की सत्ता स्वीकार की है। ईश्वर, दृष्टा (जीव) दृश्य (प्रकृति)। योग की परिभाषा में जीव को दृष्टा तथा प्रकृति को दृश्य कहा गया है। योगदर्शन के अनुसार दृष्टा आत्मा स्वरूप से शुद्ध है जबकि प्रकृति तथा उसका विकार बुद्धि परिणामिनी हैं। यह आत्मा बुद्धि से जानने योग्य अथवा बुद्धि का साक्षी है। आत्मा ज्ञान स्वरूप मात्र है। वह शुद्ध स्वरूप होने पर भी बुद्धि वृत्ति को अपने में देखने लगता है। भाव यह है कि बुद्धि रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष अज्ञानवश बुद्धि को अपना स्वरूप मान लेता है जिसके आधार पर मैं जानता हूं, मैं देखता हूं, इस प्रकार की प्रतीति करने लगता है।[1] भोज ने इसे इसी रूप में स्पष्ट किया है कि विषयों के संसर्ग से जो बुद्धि विषयाकार हो जाती है उसकी समीपता के कारण पुरुष में भी दृष्टापन प्रतीत होता है। वास्तव में पुरुष शुद्ध है।[2] यह दृष्टिमात्र पुरुष ही भोक्ता है तथा दृश्य उसका भोग्य है।[3] अर्थात् प्रकृति अपने

---

१. दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। यो० सू० २.२०

२. जातविषयोपरागायामेव बुद्धौ सन्निधिमात्रेणैव पुरुषस्य दृष्ट्रत्वमिति।
भोजवृत्ति पृ० १०३

३. तदर्थं एव दृश्यस्यात्मा। यो० सू० २१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोजन के लिए किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होती है किन्तु पुरुष के भोक्तृत्व को सिद्ध करने के लिए उसकी प्रवृत्ति होती है। पुरुष के प्रयोजन भोग तथा मोक्ष के लिए ही दृश्य = प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। अपने सुख-दुख आदि का उपभोग वह स्वयं नहीं कर सकती।

पुरुष अनेकता—पतंजलि के अनुसार दृष्टा अथवा पुरुष अनेक हैं। प्रकृति प्रत्येक पुरुष को पृथक्-पृथक् रूप में उसके भोग का सम्पादन कराती है यही कारण है कि एक कृतार्थ पुरुष के प्रति दृश्य का स्वरूप नष्ट होने पर भी अन्य पुरुषों के प्रति दृश्य का स्वरूप बना रहता है।[1] अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष को विवेक ज्ञान हो जाता है उसके प्रति यह संसार कृतप्रयोजन हो जाता है। विवेक ज्ञान को प्राप्त करके वह पुरुष मुक्त हो जाता है किन्तु जिनको विवेकज्ञान प्राप्त नहीं होता, वे मुक्त नहीं होते। फलतः उनके लिए दृश्य की प्रयोजनता बनी रहती है। इस प्रकार योगदर्शन में स्पष्टतः पुरुषों का बहुत्व सिद्ध है।

पुरुषों का यह बहुत्व न केवल संसारावस्था में ही है अपितु मोक्षावस्था में भी पुरुषों की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है। न तो उनका ईश्वर में विलय होता है न उनका परस्पर संकर होता है तथा न उनका स्वरूप नष्ट होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार व्यास ने लिखा है कि मुक्तावस्था में मोक्ष को प्राप्त होकर अनेक मुक्तात्मा रहते हैं।[2] मुक्तात्मा कूटस्थनित्य होते हैं तथा स्वरूप मात्र में प्रतिष्ठित रहते हैं, अपनी इस स्वरूपाव स्थिति का वे मुक्तात्मा अनुभव भी करते हैं।[3] इस प्रकार पातंजल सूत्रों एवं व्यास भाष्य के अनुसार पुरुष, प्रकृति एवं ईश्वर दोनों से पृथक् है। वे संख्या में नाना हैं। उनका बन्ध तथा मोक्ष अकेले-अकेले का होता है, समूह रूप में नहीं। आत्मा स्वरूपतः बद्ध नहीं अपितु मुक्त ही है उसमें अविवेक से बन्ध प्रतीत होता है। इस अविवेक के हटने मात्र से आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है यही उसका मोक्ष है। योगदर्शन में कहा गया है कि सत्वपुरुषान्यताख्याति को प्राप्त करके

---

१. कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। यो० सू० २.२२

२. कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति बहवः केवलिनः।

यो० सू० १.२४ पर व्या० भा०

३. कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत ··· । यो० सू० ४.३३ पर व्या० भा०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा सर्वज्ञता एवं सर्वभावअधिष्ठातृत्व से युक्त हो जाता है।[१] यह विशोका नाम की सिद्धि कहलाती है इसे प्राप्त करके योगी क्लेशों के बन्धन से रहित होकर, सर्वज्ञ होकर विचरण करता है।[२] योगदर्शन के समानधर्मा सांख्यदर्शन में भी बहुत्व, बन्ध एवं मोक्ष के विषय में पुरुष की स्थिति योगदर्शन के समान ही मानी गई है।

उपनिषदों में आत्मा का वर्णन विस्तार से प्राप्त होता है। इनमें आत्मा का स्वरूप योगदर्शन के समान ही माना गया है। कठोपनिषद् में आत्मा को नित्य, शाश्वत तथा जन्म न लेने वाला कहा गया है। जन्म के समान ही आत्मा की मृत्यु भी नहीं होती। जन्म-मरण केवल शरीर के होते हैं। आत्मा इनसे रहित है।[३] वह एक रथी के तुल्य हैं जो कि शरीर रूपी रथ पर बैठकर इन्द्रिय रूपी घोड़ों के मुख में मन रूपी लगाम लगाकर बुद्धि रूपी सारथि की सहायता से अपने रथ को अभीष्ट दिशा में ले जाता है। कठोपनिषद् में आत्मा को ही कर्मफल का भोक्ता स्वीकार किया गया है। शरीर में आकर मन तथा इन्द्रियों की सहायता से ही आत्मा कर्मफल का भोग करता है।[४] छान्दोग्य[५] एवं प्रश्नोपनिषद् के अनुसार शरीर में आत्मा का निवास स्थान हृदय है।[६] शरीर में रहकर आत्मा ही श्रोत्र, त्वक् आदि इन्द्रियों की सहायता से श्रवण स्पर्शन आदि कार्यों को करता है।[७] यहाँ पर यह विचारणीय है कि आजकल वैज्ञानिक युग में जबकि शल्यक्रिया के द्वारा हृदय का प्रत्यारोपण कर दिया जाता है, उस अवस्था में आत्मा कहाँ चला जाता है? विज्ञान में हृदय को

---

१. एषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति। यो० सू० ३.४९ पर व्या० भा० पृ० १४८

२. सत्वपुरुषान्यथाख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।
यो० सू० ३.४९

३ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।
कठो० १.२.१८

४. आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। वही, १.३.४

५. स वा एष आत्मा हृदि। छान्दो० ८.३.३

६. हृदि ह्येष आत्मा। प्रश्नो० ३.६

७. एष हि द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। वही ४।९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल रक्त का लेने देने वाला स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में उपनिषद् के अनुसार हृदय में आत्मा के निवास को कैसे सिद्ध किया जा सकता है। इसके समाधानार्थ कुछ विद्वान् हृदय का अर्थ ही मस्तिष्क करते हैं। मस्तिष्क के भी दो भाग हैं—छोटा मस्तिष्क तथा बड़ा मस्तिष्क। बड़े मस्तिष्क को ही आत्मा का निवास स्थान कहा जाता है। स्वामी आत्मानन्द ने प्रमाण पूर्वक यह बात कही है कि छाती में स्थित रक्त संचारी हृदय के अतिरिक्त मस्तिष्क में भी एक हृदय रहता है। जीवात्मा का मुख्य स्थान यही हृदय है हाँ, वह छाती वाले हृदय में भी आता जाता रहता है। आप्रेशन आदि के समय वह वहां नहीं रहता।[1]

आत्मा का परिमाण— मुण्डकोपनिषद् में आत्मा को अणुप्रमाण वाला माना गया है।[2] कठोपनिषद् में आत्मा को विभु माना गया है।[3] किन्तु कठोपनिषद् में यहां पर आत्मा पद परमात्मा अथवा ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार दोनों का अन्तर स्पष्ट है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतः विभु परिमाण माना जाता है; जबकि जीवात्मा अणु परिमाण वाला है। कुछ लोग जीवात्मा का परिमाण परिच्छिन्न मानते हैं अर्थात् विभिन्न शरीरों को प्राप्त करके जीवात्मा फैलता तथा सिकुड़ता रहता है। यथा चींटी के शरीर में छोटा हो जाता है तथा हस्ति आदि के शरीर में फैलकर बड़े आकार का हो जाता है। जैन दर्शन में ऐसा ही माना गया है। ऐसा मानने से जीवात्मा को विकारी मानना पड़ेगा जो ठीक नहीं है। उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप के विषय में किसी प्रकार का सन्देह अथवा भ्रम नहीं है।

---

१. सन्ध्या अष्टाङ्ग योग, पृ० २८
२. एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो०। मुण्डको० ३.१.६
३. महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। कठो० २.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

ईश्वर-मीमांसा

ईश्वर—योगदर्शन में ईश्वर को जन्म-मरण रहित, अनादि, अनुपम, दयालु, निराकार, सर्वव्यापक, कर्मफल का अभोक्ता, तटस्थ, जीवों के कर्मफल का दाता, साक्षीमात्र, क्लेशादि के बन्धनरहित, सुख दुःख-रहित, सर्वज्ञ स्वीकार किया है। योगदर्शन का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति नहीं है अपितु अविद्यादि क्लेशों को सर्वथा दूर करके समाधि को प्राप्त कराना है। ईश्वर भी इसी समाधि सिद्धि में साधन मात्र है अथवा अनुग्रह करके समाधि को प्राप्त करा देता है। ईश्वर अपने आप में अद्वितीय है। उसके समान तथा उससे बढ़कर अन्य कोई नहीं है। ईश्वर का उक्त स्वरूप योगसूत्रों तथा व्यास भाष्य में भली-भाँति स्पष्ट है। पतंजलि ने ईश्वर को अविद्यादि पञ्चक्लेशों, शुक्ल अशुक्ल तथा शुक्लाशुक्ल के रूप में त्रिविध कर्मों, जाति आयु तथा भोग के रूप में कर्मफल तथा संस्कार रूपी आशय से सर्वथा रहित पुरुषविशेष स्वीकार किया है।[1]

योगदर्शन में कर्म को ही जन्म-मरण का कारण स्वीकार किया गया है। वहाँ पर ऐसा स्पष्ट तो नहीं कहा गया किन्तु जाति, आयु तथा भोग को कर्मों के आशय (संस्कार) का ही विपाक (परिणाम) माना गया है। यह कर्माशय अविद्या आदि क्लेशों के विद्यमान रहने पर ही जाति, आयु, भोग को प्रदान करता है, क्लेशों के बिना नहीं।[2] जाति, आयु तथा भोग बिना जन्म लिए प्राप्त नहीं किए जा सकते। पतंजलि ईश्वर को क्लेश, कर्म तथा उनके विपाक =जाति, आयु, भोग से रहित मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि पतंजलि की दृष्टि में ईश्वर अजन्मा है। ईश्वर को अजन्मा मान लेने पर अर्थापत्ति से स्वयं सिद्ध है कि वह अमर भी है क्योंकि जिसका जन्म नहीं होता उसकी मृत्यु भी नहीं हो सकती। जन्म वाले की ही मृत्यु होती है। जन्म मृत्यु से रहित होने के

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। यो० सू० १.२४

२. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। यो० सू० २।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण ईश्वर में निराकारता सुतरां सिद्ध है। जन्म मृत्यु युक्त पदार्थ साकार, सावयव होगा इसके विपरीत जन्म, मृत्यु रहित पदार्थ निरवयव, निराकार होगा। ईश्वर इसी प्रकार का है। व्यास भाष्य में इस सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट किया गया है कि मुक्त पुरुष भी क्लेश, कर्म, विपाकादि से रहित होते हैं, ईश्वर को भी वैसा ही क्यों न मान लिया जाए? व्यासजी ने स्वयं ही इसका समाधान दिया है कि मुक्त पुरुष तो बन्धनों को छोड़कर मुक्त हुए हैं किन्तु ईश्वर कभी भी इन बन्धनों में पड़ता ही नहीं है।[1] इस प्रकार वह अनुपम है। अजन्मा पदार्थ के विषय में ही ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि जिसका जन्म होगा वह बन्धन में अवश्य पड़ेगा।

कर्माशय से रहित होने के कारण ही यह भी सिद्ध है कि ईश्वर सुख-दुःख से रहित है क्योंकि सुख तथा दुःख कर्माशय का ही परिणाम हैं। ये दोनों सुख तथा दुःख राग, द्वेष से भी युक्त रहते हैं।[2] परमेश्वर राग-द्वेष से भी मुक्त है।

पतंजलि के अनुसार यह ईश्वर निरतिशय सर्वज्ञता से युक्त है।[3] यद्यपि अन्य मुक्त पुरुष भी सर्वज्ञता युक्त हो जाते हैं। उनको भी तारक ज्ञान के द्वारा अतीत तथा अनागत सब कुछ प्रत्यक्ष रहता है।[4] मुक्त पुरुषों तथा ईश्वर की सर्वज्ञता में यही अन्तर है कि मुक्त पुरुष सर्वज्ञता में एक दूसरे से कम तथा अधिक हैं जबकि ईश्वर की सर्वज्ञता निरतिशय है अर्थात् उससे बढ़कर कोई भी सर्वज्ञ नहीं है। पतंजलि के अनुसार वह ईश्वर काल की सीमा से बाहर होने के कारण अनादि है, इसीलिए वह सबका गुरु भी है।[5] इस प्रकार का वह ईश्वर न्यायकर्त्ता तथा दयालु भी है। उसकी दया यही है कि अपना कुछ भी प्रयोजन होने पर भी वह प्राणियों को ज्ञान आदि प्रदान करता है[6] तथा

---

१. ते (केवलिनः) हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।
यो० सू० १.२४, व्या० भा० पृ० २४

२. सुखदुःखफलो हि कर्माशयः। तत्त्व वैशारदी, पृ० ६१
सुखदुःखे च रागद्वेषानुषक्ते। यो० सू० १.१३ पर

३. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञवीजम्। यो० १.२५

४. तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। यो० सू० ३.५४

५. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। यो० सू० १.२६

६. तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहप्रयोजनम्। यो० सू० १.२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रलय के पश्चात् निमित्त कारण के रूप में उपस्थित रहकर जीवों को कर्मफल प्राप्त कराने के लिए सृष्टि रचना में सहायक बनता है। सृष्टि प्रवाह से अनादि है अर्थात् सृष्टि की रचना तथा प्रलय होते रहते हैं। इनके होने में ईश्वर निमित्त रहता है। इसी प्रकार दया करके ही ईश्वर अभिध्यान मात्र से प्राणिधानी को समाधि सिद्धि तथा उसके फल मोक्ष को प्राप्त करा देता है।[1] इन सभी कारणों से ईश्वर की दयालुता तथा कर्मफल प्रदातृत्व भी सूचित होते हैं। वह जीवों के कर्मों का साक्षी मात्र तथा तटस्थ रहकर ही जीवों को उनके कर्मानुसार फल प्रदान करता है। इस प्रकार योगसूत्रों तथा व्यास भाष्य के आधार पर परमेश्वर का उक्त स्वरूप भली-भांति स्पष्ट हो जाता है।

उपनिषदों में ईश्वर की चर्चा अति बिस्तार से की गई है। यदि यह कहा जाए कि उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य ब्रह्म, जीवात्मा तथा जीवात्मा को अभिलाषित मोक्ष ही है तो अत्युक्ति न होगी। इसी कारण उपनिषदों को आध्यात्मिक ज्ञान की निधि माना गया है। उपनिषदों में भी ईश्वर का इसी प्रकार का स्वरूप वर्णित है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जड़ तथा चेतन के रूप में सभी शरीरधारियों में ईश्वर अशरीरी होकर रह रहा है। वह अपने गुणों एवं शक्तियों के कारण सबसे महान् है तथा विभु परिमाण वाला है।[2] इसी उपनिषद् के अनुसार वह ब्रह्म शुक्र अर्थात् शुद्ध स्वरूप है। वह समस्त संसार में उसी प्रकार व्याप्त है। समस्त लोकलोकान्तर उसमें आश्रित हैं।[3] वह ब्रह्म प्राणीमात्र का अन्तरात्मा है सबको अपने वश अर्थात् नियन्त्रण में रखने वाला है। वह ब्रह्म संसार के बाह्य सुख-दुःख से सर्वथा अछूता है।[4] वह नित्य है, चेतन है तथा सबके कर्मफल का विधाता है।[5] श्वेताश्वर उपनिषद् में भी उक्त

---

१. प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुग्रहणात्यभिध्यानमात्रेण।
व्या० भा० पृ० २८

२. अशरीरं शरेष्वनवस्थेष्ववस्थिम्। महान्तं विभुमात्मानं। कठो० १.२.२२

३. तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ वही, १.२.८

४. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। वही, २.२.१०

५. नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
वही, २.२.१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों से युक्त ईश्वर का ही प्रतिपादन किया गया है।[1] श्वेताश्वर ऋषि के अनुसार ब्रह्म समस्त कला एवं क्रियाओं रहित है, शान्त है तथा निरञ्जन है।[2] 'य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः' (ऋ. १०,१२१.३) इस वेद मन्त्र की भाषा में ही श्वेताश्वर उपनिषद् में लिखा है--य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव (श्वेता० १.६.१७) अर्थात् वह ब्रह्म इस समस्त जगत् का स्वामी है। कैवल्योपनिषद् में भी ब्रह्म को इसी प्रकार सभी प्राणियों का आत्मा, संसार का आयतन, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा नित्य माना गया है।[3] तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को सत्य तथा ज्ञान स्वरूप, अनन्त एवं आनन्दमय माना गया है।[4] इन गुणों में उन सभी गुणों का समावेश हो जाता है जो कि योगदर्शन में ईश्वर के सम्बन्ध में कहे गए हैं। वस्तुतः योगदर्शन एवं उपनिषदों में ब्रह्म अथवा ईश्वर का उक्त स्वरूप वेदों के अनुसार ही प्रतिपादित किया गया है। वेद के एक मन्त्र में ईश्वर को शुद्ध, सर्वव्यापक, शरीर रहित आदि गुणों से युक्त कहा गया है।[5]

मुण्डकोपनिषद् में परमात्मा का स्वरूप एवं प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए लिखा है कि वह ज्योतिर्मय तथा शुभ्र है। अपने दोषों को नष्ट करके ही यति लोग उसे प्राप्त करते हैं। योगदर्शन में इन दोषों को ही क्लेश नाम दिया गया है।

महर्षि दयानन्द ने इन सभी शास्त्रों के आधार पर ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार लिखा है—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है।

---

१. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ श्वेता० १.६.११

२. निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनञ्च। वही, १.२.१९

३. यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतमं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्॥ कैवल्यो० १.१६

४. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैत्ति० २.१.२
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानत्। वही, ३.६.१

५. सः पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजु० ४० ८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगदर्शन में प्रणव अर्थात् ओम् को ईश्वर का वाचक कहा है।[1] उपनिषदों में विस्तार से ओम् की महिमा का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म को ही ओम् कहा गया है। कठोपनिषद्कार का कहना है कि समस्त वेद तथा तप आदि ओम् का ही प्रतिपादन करते हैं तथा उसकी महिमा का बखान करते हैं।[2]

ओम् का जप योगदर्शन में ओम् के जप का विधान है किन्तु इसमें शर्त यह है कि यह जप केवल वाचिक न होकर ईश्वर की भावना के साथ करना चाहिए। प्रणव के जप से चित्त एकाग्र हो जाता है। व्यास भाष्य में विष्णु पुराण का श्लोक उद्धृत करके कहा गया है कि ईश्वर की भावना पूर्वक प्रणव के जप से परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।[3] प्रश्नोपनिषद् (५.५) में कहा गया है कि ओंकार की एक मात्रा से ध्यान करता हुआ उपासक संसार में उत्पन्न होकर तप, श्रद्धा, सत्य आदि से युक्त होकर महिमा का अनुभव करता है। दो मात्राओं से जप करने पर सोमलोक को प्राप्त करता है तथा तीन मात्राओं से जप करने पर पाप से सर्वथा छूटकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। योगी लक्ष्मणानन्द ने इन मात्राओं के जप की व्याख्या इस प्रकार की है 'ओम् का जप करने वाले पुरुष को यदि उसके अर्थ का विचार वा ज्ञान न हो तो जानो कि वह एक मात्रा से ओम् को जपता है। यदि अर्थ विचार सहित जपे तो जानो कि वह दो मात्राओं से ओम् का जप करता है और जो उस आनन्द स्वरूप परमात्मा के सम्मुख और उस ही के आधार और आनन्द के प्रकाश में निमग्न होकर जपे तो जानो कि वह ओम् का जाप उसकी तीनो मात्राओं से करता है।[4]

---

१. अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं तु पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।
मुण्डको० ३.१.५

२. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
कठो० १.२.१५

३. स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमासते।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥
यो० सू० १.२८, व्या० भा० पृ० ३०

४. ध्यानयोग प्रकाश, पृ० १३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगतत्त्वोपनिषद् में कहा गया है कि एकान्त में बैठकर प्लुत सहित प्रणव का जप करने वाले व्यक्ति के पूर्वजन्म के पाप भी नष्ट हो जाते हैं। यह मन्त्र सभी प्रकार के दोषों एवं विघ्नो को दूर करने वाला है।[1]

ब्रह्म दर्शन के प्रकार - जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि योगदर्शन का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति न होकर समाधि की सिद्धि करना है। पतंजलि के अनुसार ईश्वर भी समाधि की सिद्धि में साधन किं वा सहायक मात्र है समाधि का लक्ष्य नहीं। धर्ममेघ समाधि के उपरान्त कैवल्य प्राप्ति की बात तो पतंजलि ने कही है, परमात्मा की प्राप्ति की बात नहीं की। व्यास भाष्य में विष्णु पुराण का श्लोक देकर परमात्मा प्राप्ति की बात अवश्य कही गयी है। इसके अतिरिक्त पातंजल सूत्रों तथा व्यास भाष्य में पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठा =आत्मदर्शन की चर्चा कई स्थानों पर की गई है। उपनिषदों में भी बार-बार आत्मदर्शन की बात बलपूर्वक कही गई है। किन्तु यहाँ पर आत्मा का अभिप्राय जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों से लिया जाता है। योगदर्शन तथा उपनिषदों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि समाधि, आत्मदर्शन, कैवल्य तथा परमात्मादर्शन में कोई तात्त्विक भेद न होकर ये सभी परस्पर मिले-जुले से ही हैं तथा एक को प्राप्त कर लेने के उपरान्त स्वतः ही दूसरे की प्राप्ति हो जाती है। इनमें सबसे प्रथम कड़ी है—समाधि की प्राप्ति। इसके साथ ही क्रमशः आत्मदर्शन, कैवल्य तथा परमात्मदर्शन हो जाते हैं। उनके लिए अलग से कोई यत्न विशेष नहीं करना पड़ता जबकि निर्बीज समाधि की सिद्धि से पूर्व पर वैराग्य आवश्यक है। निर्बीज समाधि तक पहुंचने की प्रक्रिया का वर्णन ही पतंजलि ने योगदर्शन में एक बहुत ही सुसम्बद्ध तरीके से किया है। इसके बाद आत्मदर्शन, कैवल्य तथा परमात्मदर्शन मानो क्रमशः स्वतः ही हो जाते हैं। इसी लिए योगदर्शन का लक्ष्य परमात्मदर्शन अथवा आत्मदर्शन न होकर समाधि की प्राप्ति मात्र करना रहा है जबकि उपनिषदों में साक्षात् आत्मदर्शन की बात की गई है। आत्मदर्शन के लिए उपनिषदों में भी वही प्रकार बतलाया गया है

---

१. ततो रहस्युपविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा ॥ योग० तत्त्वो० श्लो० ६३-६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कि योगदर्शन में समाधि को प्राप्त करने का है। न केवल इतना ही अपितु अनेक स्थानों पर तो योगदर्शन तथा उपनिषदों की पारिभाषिक संज्ञाएं एवं अन्य शब्दावली भी समान हैं। उपनिषदों में ब्रह्म प्राप्ति के निम्न उपाय कहे गए हैं—

(१) **अध्यात्मयोग** –आत्मनि इति अध्यात्मम्। आत्मा (जीव तथा परमात्मा) को लक्ष्य में रखकर जो बात कही जाए उसे अध्यात्म कहते हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है कि अध्यात्मयोग को प्राप्त करके प्राणी हर्ष तथा शोक से छूट जाता है।[१] दूसरे स्थानों पर इसे ही ध्यानयोग भी कहा गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् में कहा गया है कि ध्यानयोग के द्वारा योगियों ने अपने अन्दर छिपी हुई परमात्मा रूपी शक्ति को देखा।[२] इसी प्रकार कैवल्योपनिषद् में कहा गया है कि श्रद्धा तथा भक्ति सहित ध्यानयोग से परात्पर पुरुष ब्रह्म को जाना जाता है।[३] इस प्रकार इन उपनिषदों में स्पष्ट रूप में ध्यानयोग का उल्लेख प्राप्त होता है। यह ध्यानयोग यही है जिसका प्रतिपादन पतंजलि ने अष्टाँगयोग के रूप में किया है। गीता में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है।

ध्यान द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रकार बतलाते हुए श्वेताश्वर उपनिषद् में कहा गया है कि अपने शरीर को मानो नीचे की अरणि बनाकर तथा प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा निर्मथन करने से ब्रह्म का साक्षात्कार उसी प्रकार हो जाता है जैसे कि दो अरणियों (आग जलाने की-लकड़ियों) को परस्पर रगड़ने से अग्नि प्रकट हो जाती है।[४] कैवल्योपनिषद् में भी ठीक इसी रूप में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार ज्ञान के निर्मथन से पाप को नष्ट कर दिया जाता है।[५] योगदर्शन का उद्देश्य भी यही है कि योग की प्रक्रिया के द्वारा वृत्ति निरोधपूर्वक अविद्यादि क्लेशों

---

१. अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। कठो० १.२.१२
२. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्। श्वेता० १.३
३. तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि। कैवल्यो० १.२
४. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥
श्वेता० १.१४ तथा ध्यान बिन्दु० श्लो० २२
५. ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः। कैवल्यो० १.१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को समाप्त कर दिया जाए। इस प्रकार ध्यान करने से ब्रह्म का दर्शन कहाँ पर कैसे होता है इस विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा में ही आत्मा का ग्रहण होता है।[1] अर्थात् जीवात्मा को अपने अन्दर ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यह स्थिति वही है जिसका कि योगदर्शन में इस रूप में प्रतिपादन किया गया है कि समाधि के द्वारा चित्तवृत्ति निरोध के उपरान्त योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् आत्म साक्षात्कार कर लेता है। इस आत्म साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त करके इससे थोड़ा-सा और ऊपर उठकर ब्रह्म का साक्षात्कार भी आत्मा में ही हो जाता है।

यहां पर शंका हो सकती है कि यदि ब्रह्म भी शरीर के अन्दर ही विद्यमान है तो वहां पर वर्तमान जीवात्मा को उसका साक्षात्कार सदैव क्यों नहीं होता। इस प्रश्न का समाधान श्वेताश्वर उपनिषद् के कथन से मिलता है कि जिस प्रकार तिलों में तेल व्याप्त है तथा दही में घृत व्याप्त है किन्तु दिखलाई नहीं देता। मन्थन करने के उपरान्त ही तिलों से तेल तथा दही से घृत की प्राप्ति होती है उसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म शरीर में विद्यमान तो सर्वदा ही रहता है तथापि उसका साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता जब तक कि ध्यान के द्वारा निर्मंथन न किया जाए। इस प्रकार आत्मा तथा ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए ध्यान अत्यन्त आवश्यक है।

(२) **श्रद्धा, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि**—ध्यान की उक्त प्रक्रिया के साथ-साथ उपनिषदों में श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि को भी आवश्यक बतलाया गया है। वहां पर सत्य तथा ब्रह्मचर्य पर तो बहुत ही बल दिया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों की दृष्टि में सत्य तथा ब्रह्मचर्य के बिना योग मार्ग में गति नहीं हो सकती। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है यह आत्मा सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त होता है।[2] सत्य पर बल देते हुए इसमें यहाँ तक कहा गया है कि सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य से ही देवयान नामक रास्ता परिपूर्ण है। इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि तप, श्रद्धा, विद्या तथा विद्या के द्वारा आत्मा को

---

१. आत्मन्येवात्मानं पश्यति। बृहदा० ४.४.२२

२. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
मुण्डको० ३.१.५

३. सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः। वही, ३.१.६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने ।[१] छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मचर्य की महिमा का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा को जाना जाता है[२] तथा ब्रह्मलोक[३] की प्राप्ति होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में तप को ब्रह्म प्राप्ति का साधन बतलाते हुए उसे साक्षात् ब्रह्म कहा गया है ।[४] बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि शान्त, दान्त, विषयों के उपरत, तितक्षु, समाहित चित्त वाला व्यक्ति ही अपने आत्मा में परमात्मा को देख सकता है ।[५] यहां पर प्रयुक्त सभी शब्द योगदर्शन की प्रक्रिया से पूर्णतः सामञ्जस्य रखते हैं। यथा — तितिक्षु का अर्थ है कष्ट-दुःखादि को सहन करने वाला। योगदर्शन में इसी अभिप्राय से तप का विधान नियमों के अन्तर्गत किया गया है। व्यास भाष्य में सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को सहन करना ही तप कहा गया है। यहां पर प्रयुक्त दान्त का अर्थ है—अपनी इन्द्रियों का दमन करने वाला। प्रारम्भ में इन्द्रियों को विषयों से बलपूर्वक रोकना पड़ता है किन्तु अभ्यास की परिपक्वता होने पर इन्द्रियां एवं चित्त विषयों से निवृत्त हो जाते हैं। उसके लिए ही यहां पर उपरत पद आया है। योगदर्शन में इसी अर्थ में प्रत्याहार का विधान किया गया है। प्रत्याहार की अवस्था में भी इन्द्रियां विषयों से सर्वथा दूर हट जाती हैं। इन विशेषणों के अतिरिक्त यहाँ पर प्रयुक्त समाहित पद तो पूर्णतः योगदर्शन का ही है। समाधि के द्वारा जिसका चित्त सर्वथा निरुद्ध हो गया है उसे ही उपनिषद् में समाहित कहा गया है।

मुण्डकोपनिषद् में भी इसी प्रकार कहा गया है कि ज्ञानतृप्त, कृतात्मा वीतराग तथा प्रशान्त ऋषि सर्वव्यापक ब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्म में ही प्रवेश करते हैं।[६] यहां पर प्रयुक्त ज्ञान तृप्त व्यक्ति का अर्थ योगदर्शन के अनुसार

---

१. तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यात् । प्रश्नोप० १।१०

२. ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते । छान्दो० ८।४।२

३. एवं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति । वही, ८।३।३

४. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । तैत्तिरीयो० ३.५

५. शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्यात्मानं पश्यति ।
बृहदा० ४।४।२३

६. सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मनो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
मुण्डको० ३.२.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैराग्य सम्पन्न व्यक्ति से ही है। वैराग्य की व्याख्या करते हुए व्यास भाष्य में कहा गया है—'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्' अर्थात् ज्ञान की अन्तिम सीमा ही परवैराग्य कहलाती है। इसी परवैराग्य के पश्चात् योगदर्शन के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' तथा 'ज्ञानान्मुक्तिः' आदि के अनुसार भी मुक्ति के लिए ज्ञान परमावश्यक है। शब्द अलग-अलग हैं किन्तु प्रक्रिया एक ही है कि ज्ञान की पराकाष्ठा अर्थात् परवैराग्य को प्राप्त करके असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। कैवल्य इसके बिल्कुल पास में ही है[1] अर्थात् इस अवस्था को प्राप्त करके कैवल्य अवश्य मिल जाता है।

उपनिषद् के उक्त उद्धरण में 'वीतरागाः' भी कहा गया है। राग तथा द्वेष परस्पर सापेक्ष हैं एक के होने पर दूसरा अवश्य रहता है। इसीलिए योग दर्शन में राग तथा द्वेष की गणना क्लेशों के अन्तर्गत की गई है। अतः यह सिद्ध हुआ कि उपनिषद् के 'वीतरागः' का अभिप्राय वही है जो कि योगदर्शन के अनुसार राग द्वेष से छूटने का है। उपनिषद् में 'युक्तात्मानः' पद भी पढ़ा हुआ है। युक्त पद को 'युज समाधौ' धातु से निष्पन्न मानने पर युक्तात्मा का अर्थ समाहित चित्त वाला योगी होता है। ऐसे व्यक्ति को ही उपनिषद् में दूसरे शब्दों में कृतात्मा कहा गया है। कृतः (साक्षात्कृतः) आत्मा येन स कृतात्मा। जिसने आत्म साक्षात्कार कर लिया है। उसे ही कृतात्मा कहेंगे। ऐसे व्यक्ति के लिए ही योगदर्शन में 'तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू० १.१.२) सूत्र आया है। इस प्रकार उपनिषद् के उक्त उद्धरण में जो भी विशेषण यहां प्रयुक्त हुए हैं वे सभी विशेषण ऐसे व्यक्ति की ओर संकेत करते हैं जिसने अपने रागद्वेष आदि दोषों को सर्वथा दूर करके परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करके आत्मसाक्षात्कार कर लिया है।

इसी उपनिषद् में एक अन्य पद 'शुद्धसत्वाः' भी पठित है[2] जो स्पष्ट रूप में योगदर्शन में प्रतिपादित समाधि से युक्त योगी की ओर ही संकेत कर रहा है। पतंजलि के अनुसार निर्विचार समाधि का वैशारद्य प्राप्त होने पर अध्यात्म

---

१. ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव नान्तरीयकं कैवल्यम्।
यो० सू० १.१६ व्या० भा० पृ० १६,

२. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
मुण्डको० ३.२.६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसाद प्राप्त होता है।[1] पतंजलि के 'वैशारद्य' की व्याख्या करते हुए व्यास भाष्य में लिखा है कि अशुद्धि आवरण रूपी मल के दूर हो जाने पर प्रकाश स्वरूप बुद्धिसत्त्व की रज तथा तम से सर्वथा रहित स्थिति को वैशारद्य कहते हैं।[2] इसी वैशारद्य की स्थिति से युक्त योगी के लिए मुण्डकोपनिषद् में 'शुद्ध-सत्वाः' पद आया है। इस प्रकार उपनिषद्कारने 'शुद्धसत्वाः' कहकर सम्प्रज्ञात समापति युक्त योगी का ही वर्णन किया है।

यह शुद्धसत्त्वता कैसे प्राप्त होती है इसके लिए उपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञानप्रसाद के द्वारा विशुद्धसत्त्व होकर योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।[3] यहां पर उपनिषद्कार ने जिस ज्ञानप्रसाद का उल्लेख किया है इसका ही वर्णन योगदर्शन में किया गया है। व्यास भाष्य में कहा गया है कि पर-वैराग्य को ही ज्ञानप्रसाद कहते हैं। इस परवैराग्य को प्राप्त कर लेने पर योगी ऐसा समझने लगता है कि मुझे जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया, अविद्या आदि क्लेशों का क्षय हो गया, तथा मैंने संसार के अपने आवागमन को नष्ट कर दिया है। मुण्डकोपनिषद् में ऐसे व्यक्ति को धीर कहा गया है। कठोपनिषद् में भी इसके ही समान विचार प्रकट किया गया है कि जो व्यक्ति अपने आत्मा में परमात्मा को देख लेते हैं वे धीर कहलाते हैं। उनको ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।[4] वह अवस्था ज्ञान की पराकाष्ठा है। उप-निषदों में इसके लिए ही कहा गया है—प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् (कठो० २.२.४) अर्थात् परमात्मा को प्रज्ञान = प्रकृष्टज्ञान के द्वारा प्राप्त करे। यही अवस्था प्रज्ञान की है।

मनीषा—उपनिषदों में कहा गया है कि वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियाँ ब्रह्म तक नहीं पहुंच सकती। कठोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि के

---

१. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। यो० सू० १।४७

२. अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभि-भूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। व्या० भा० पृ० ४६

३. ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।
मुण्डको० ३.१.८

४. तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।
कठो० २.२.१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा देखा जा सकता है। इस बुद्धि को यहां पर अग्रचा बुद्धि कहा है।[1] अन्यत्र कठोपनिषद्[2] तथा श्वेताश्वर उपनिषद्[3] में इस बुद्धि को मनीषा नाम देकर इसे परमात्मा के साक्षात्कार का साधन बतलाया गया है। केनोपनिषद् में इसे ही उमा कहा गया है। जब अग्नि आदि सभी देव ब्रह्म का स्वरूप जानने में असमर्थ रहे तब उमा नामक इसी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ब्रह्म जाना गया। शंकराचार्य ने उमा का अर्थ बुद्धि ही किया है।

योगदर्शन में इसे ही ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा गया है।[4] यह प्रज्ञा श्रुत विषयक तथा अनुमान विषयक प्रज्ञा से भिन्न होती है।[5] यह केवल सत्य को ही ग्रहण करती हैं। इसमें विपर्यय, अविद्या आदि का लेश भी नहीं रहता।[6] इस बुद्धि के द्वारा ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

ईश्वर की कृपा—योगदर्शन एवं उपनिषदों में ईश्वर के साक्षात्कार के लिए उसकी कृपा को भी एक सशक्त साधन माना गया है। योगदर्शन में इस को ईश्वर प्रणिधान कहा गया है। पतंजलि ने सिद्धियों के प्रसंग में स्पष्ट लिखा है कि ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।[6] व्यासजी ने इस सूत्र की व्याख्या में ईश्वर प्रणिधान का अर्थ ईश्वर में अपनी सभी कामनाओं का अर्पण करना किया है। समाधिपाद में भी ईश्वर प्रणिधानाद्वा (यो० सू०-१.२३) द्वारा पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान को समाधि का आसन्नतर साधन कहा है। इसकी व्याख्या में व्यास जी ने लिखा है कि प्रणिधान अर्थात् भक्ति विशेष के द्वारा अनुकूल बनाया गया ईश्वर भक्त को अभिध्यान मात्र=इच्छा मात्र से अनुगृहीत करता है।[7] कठोपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् में समान रूप

---

१. दृश्यते त्वग्रचया बुद्ध्या सूक्ष्मसूक्ष्मदर्शिभिः। कठो० १.३.१२

२. हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।
कठो० २.३.९ तथा श्वेता० ३.१३ एवं ४.१०, महानारा० १९.११

३. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। यो० सू० १.४८

४. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। यो० सू० १.४९

५. सा सत्यमेव बिभर्ति। न च तत्र विपर्यासिज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति।
यो० सू० १.४८, व्या० भा० पृ० ४६

६. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। यो० सू० २.४५

७. प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।
यो० सू० १.२३ पर व्या० भा० पृ० २३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में योगदर्शन की बात को ही इस रूप में कहा गया है कि वह परमात्मा जिस को स्वीकार कर लेता है—उसके द्वारा ही वह प्रापणीय है। उसके सामने वह अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।[1] कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वरोपनिषद् में ईश्वरप्रणिधान के लिए धातु:प्रसाद पद आया है। इन उपनिषदों में कहा गया है कि धातु:प्रसाद अर्थात् ईश्वर की कृपा से शोक रहित व्यक्ति परमात्मा के दर्शन कर लेता है।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि योगदर्शन में समाधि अथवा आत्म साक्षात्कार के लिए जिन साधनो अथवा जिस प्रक्रिया का उल्लेख किया है उन साधनों को ही उपनिषदों में ब्रह्मदर्शन के साधन माना गया है। इसके अतिरिक्त कुछ उपनिषदों में व्यतिरेकमुखेन ब्रह्मदर्शन के अनधिकारी व्यक्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति दुश्चरित से नहीं हटा है, जो शान्त नहीं है तथा जो समाहित चित्त वाला नहीं है, उसे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता।[3] यहां पर दुश्चरित शब्द विशेष अवधेय है कि जिसके दूर किए बिना योगमार्ग में गति नहीं हो सकती। उक्त कथन उन भ्रान्त धारणाओं का सर्वथा निराकरण कर देता है कि योगमार्ग में चलने के लिए चरित्र आदि का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में यहां पर कहा है कि जो असावधान मन वाला सदैव अपवित्र तथा अविज्ञानवान् व्यक्ति होता है, वह भी ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जान सकता। ऐसा व्यक्ति जन्ममरण के चक्कर में पड़ा हुआ बार-बार संसार में आता जाता रहता है।[4] कठोपनिषद् का उक्त कथन योगदर्शन के ही अनुकूल है। योगदर्शन में वर्णित यम-नियमों का पालन करने से व्यक्ति में दुश्चरित का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। वहां पर

---

१. यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।
कठो० १.२.२३ तथा मुण्डको० ३.२.३

२. तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमीशम्।
कठो० १.२.२० तथा श्वेता० ३.२०

३. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
कठो० १.२.२४ तथा नारद परि० ९.१

४. यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥ कठो० १.२.२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नियम योगसाधक के चरित्र को सर्वथा निर्दोष करने के लिए ही विहित है। उपनिषदों में ब्रह्मदर्शन में अपवित्रता का सर्वथा निषेध किया है। इसके लिए तो योगदर्शन में स्पष्ट रूप में शौच की गणना नियमों के अन्तर्गत सर्वप्रथम की गई है। योगदर्शन का मूल उद्देश्य ही समाहित चित्त होना है। इसी अभिप्राय से कठोपनिषद् में असमाहित चित्त वाले व्यक्ति को ब्रह्मदर्शन का अनधिकारी बतलाया गया है।

ब्रह्मदर्शन का फल—योगदर्शन स्पष्ट रूप में ब्रह्मदर्शन की बात नहीं कही गई है अतः वहां पर इसके फल का उल्लेख न होना भी स्वाभाविक ही है। उपनिषदों में विस्तार से ब्रह्मदर्शन, उसके उपायों एवं फल का वर्णन किया गया है किन्तु सावधानी से देखने पर यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में ब्रह्मदर्शन का जो फल वर्णित है वही योगदर्शन में प्रकारान्तर से कहा गया है। यथा —योगदर्शन का उद्देश्य अविद्या आदि क्लेशों को नष्ट करके समाधिस्थ होकर आत्मदर्शन करना है। उपनिषदों में भी इसी प्रकार पाश-हानि अथवा अविद्या आदि ग्रन्थियों का नाश होना ब्रह्मदर्शन का फल कहा गया है। इसके अतिरिक्त जरा, मृत्यु, भूख, प्यास आदि की समाप्ति भी ब्रह्मदर्शन से हो जाती है। योग के द्वारा भी योगी इन सबसे ऊपर उठ जाता है।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म को जानकर व्यक्ति हर्ष तथा शोक को छोड़ देता है।[१] इसी प्रकार के भाव श्वेताश्वर[२] तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में भी व्यक्त किए गए हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में सनत्कुमार के पास जाकर नारदजी कहते हैं कि 'तरति शोकमात्मवित्' अर्थात् आत्मवेत्ता पुरुष शोक से पार तर जाता है। हर्ष तथा शोक दोनों सापेक्ष है। ये दोनों राग तथा द्वेष का ही परिणाम हैं। सुख कारक पदार्थ के प्रति चित्त में राग एवं दुःखकारक के प्रति द्वेष रहता है। अतः सुखकारक पदार्थ की प्राप्ति से हर्ष तथा अप्राप्ति से शोक उत्पन्न होता है। इसी प्रकार दुःखकारक पदार्थ की प्राप्ति से शोक तथा अप्राप्ति से हर्ष उत्पन्न होता है। योगदर्शनकार राग तथा द्वेष की गणना क्लेशों में करके इनको दूर करने के लिए कह रहे हैं तो उपनिषद्कार हर्ष तथा

---

१. (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।
कठो० १.२.१२

(ख) महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति वही, १.२.२०, २.१.४

२. तद्वदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एक कृतार्थो भवति वीतशोकः। श्वेता० २.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोक के त्याग की बात कह रहे हैं। इस योगदर्शन तथा उपनिषद् का लक्ष्य एक ही है। योगदर्शन के अनुसार समाधि की अवस्था को प्राप्त करके राग द्वेष आदि सर्वथा छूट जाते हैं जबकि उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मदर्शन करने के उपरान्त हर्ष तथा शोक छूट जाते हैं। ये दोनों कथन परस्पर एक ही हैं।

अविद्याग्रन्थि का नाश—योगदर्शन के अनुसार समाहित चित्त होने पर अविद्या रूपी क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाता है। तब बुद्धि तत्त्व प्रकाशात्मकता को धारण कर लेता है। ऐसी स्थिति सम्प्रज्ञान समापत्ति को प्राप्त करके हो जाती है। अविद्या आदि मलों एवं क्लेशों को नष्ट करना ही योगदर्शन का उद्देश्य है। अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष तथा अभिनिवेश इन क्लेशों में अविद्या ही प्रधान है। दूसरे शब्दों में ये पांचों क्लेश अविद्या के ही भेद हैं क्योंकि इन सबमें अविद्या अनुस्यूत रहती है।[1] अविद्या की प्रधानता होने के कारण उपनिषदों में अविद्या को ही नष्ट करने की बात कही गयी है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म को जानकर योगी इसी जन्म में अविद्या रूपी ग्रन्थि को नष्ट कर देता हैं।[2] अविद्याग्रन्थि नष्ट होने के साथ ही योगी के समस्त संशयों का नाश हो जाता है। उसके समस्त कर्म परमात्मा को देखकर नष्ट हो जाते हैं।[3] अविद्या ही कर्म का मूल थी। अविद्या के नष्ट होने से कर्म बन्धन भी नष्ट हो जाता है। कर्म बन्धन नष्ट हो जाने से कर्म से होने वाले जन्म-मरण भी नष्ट हो जाते हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जब हृदय की समस्त ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं तब मरण धर्मा पुरुष अमृत अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस अमृतावस्था में वह ब्रह्म का साक्षात्कार करता है क्योंकि उसके हृदय की सभी कामनायें अथवा वासनाएं नष्ट हो गई हैं। श्वेताश्वर

---

१. सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात् ? सर्वेष्वेवाविद्याभिप्लवते। क्षीयमाणां चाविद्यामनुक्षीयन्त इति।

योे० सू० १.४ पर व्या० भा० पृ० ५५

२. एतद्यो वेद निहितं गुहायाँ सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य !

मुण्डको० २.१.१०

३. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।। मुण्डको० २.२.८
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि संस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भव यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। कठो० २.३.१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद् में अविद्या आदि क्लेशों को पाश कहा गया है क्योंकि ये ही मनुष्य को जन्म-मरण के चक्कर में बाँधते हैं। इस उपनिषद् के अनुसार परमात्मा को जानकर अविद्या आदि सभी प्रकार के पाश कट जाते हैं।[1]

श्वेताश्वर उपनिषद् में तो स्पष्ट रूप में योगदर्शन के समान क्लेश शब्द भी पठित है। वहां पर कहा गया है कि क्लेशों के क्षीण हो जाने पर जन्म तथा मृत्यु नष्ट हो जाते हैं।[2] स्पष्ट रूप में यह उसी अवस्था का वर्णन है जब समस्त क्लेशों को नष्ट करके योगी समाधिस्थ होकर आत्म-दर्शन कर लेता है। इसके पश्चात् कैवल्य को प्राप्त होकर ब्रह्मदर्शन कर लेता है। इस प्रकार आत्मदर्शन की प्रक्रिया एवं फल की दृष्टि योगदर्शन तथा उपनिषदों में बिल्कुल समानता है।

आहार शुद्धि—इस प्रसङ्ग में मुण्डकोपनिषद् में एक महत्त्वपूर्ण बात अत्यन्त स्पष्टता के साथ कही गई है कि योगाभ्यासी को अपना आहार अवश्य शुद्ध रखना चाहिए। शुद्ध का तात्पर्य हिंसा, तमोगुण आदि दोषों से रहित होना ही है। ऐसा इसीलिए अनिवार्य माना गया है कि मुण्डकोपनिषद् के अनुसार आहार की शुद्धि रहने पर स्मृति में ध्रुवता आती है। स्मृति की प्राप्ति होने पर ही सभी अविद्या ग्रन्थियां नष्ट होती है।[3] इस प्रकार इस प्रक्रिया में आहार की शुद्धि परमावश्यक है।

उपनिषद् की उक्त प्रक्रिया इसलिए प्रामाणिक है क्योंकि आहार का शरीर के साथ-साथ मन एवं बुद्धि पर भी एकदम सीधा असर पड़ता है। अशुद्ध एवं तामसिक भोजन करने के तामसिक मन एवं उत्तम सात्तिक भोजन से सात्त्विक विचार बनते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसीलिए कहा गया है—जैसा खाए अन्न वैसा बने मन। मद्य-मांस आदि पदार्थ मन एवं बुद्धि को विकृत कर देते हैं। जैसाकि कहा गया है—बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते। अर्थात् मद्य आदि मादक पदार्थ बुद्धि का लोप कर देते हैं हैं। इसीलिए उप-

---

१. (क) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। श्वेताश्वरो० १.८ तथा २.१५
(ख) ज्ञात्वा देवं सर्वपाशहानिः। वही, १.११

२. (क) क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। श्वेता० १.११
(ख) तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति : वही, ४.१५

३. आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। मुण्डको० ७.२६.२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषद् में कहा गया है कि आहार की शुद्धि होने पर बुद्धि शुद्ध रहती है। बुद्धि की शुद्धि होने पर जिस स्मृति प्राप्ति की बात यहां पर उपनिषद् में कही गयी है। वह कदाचित योगदर्शन में वर्णित ऋतम्भरा प्रज्ञा ही है। इस प्रज्ञा की प्राप्ति होने से ही मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है।

योगदर्शन में यद्यपि इतने स्पष्ट रूप में आहार शुद्धि का उल्लेख नहीं किया गया तथापि अष्टांग योग के सभी अंगों पर दृष्टिपात करने से यह बात भली-भांति स्पष्ट हो जाती है कि वहां पर भी आहार आदि सभी प्रकार की शुद्धि अभिप्रेत है। योगदर्शन के अहिंसा व्रत का पालन करता हुआ व्यक्ति कभी भी मांस भक्षण आदि में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता, क्योंकि वहां पर हिंसा है। हिंसा का स्पष्टीकरण भी पतंजलि ने स्वयं कर दिया है कि स्वयं हाथों से वध करने को ही हिंसा नहीं कहते अपितु स्वयंकृत, दूसरों से करायी गई तथा अनुमोदित तीन प्रकार की हिंसा होती है। इनके पुनः सूक्ष्म भेद होकर हिंसा ८१ प्रकार की हो जाती है।[1] अतः मांस अण्डा आदि खाने वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार हिंसा से बच ही नहीं सकता। इसी प्रकार योगदर्शन में नियमों के अन्तर्गत कहे गए शौच का क्षेत्र भी अति विस्तृत है। मद्य आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने वाला व्यक्ति कभी भी अन्दर तथा बाहर से पवित्र रह ही नहीं सकता।

---

१. वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिताः लोभक्रोधमोहपूर्वकाः।

यो० सू० २.३४

इस पर व्यास भाष्य—एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम अध्याय

कैवल्य मीमांसा

कैवल्य (मोक्ष) का स्वरूप—योगदर्शन के अनुसार चार पदार्थ हैं—हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय। इनमें दुःख हेय है। अविद्या के कारण बुद्धि तथा पुरुष का संयोग ही हेय का हेतु है। अविद्या के नष्ट हो जाने पर बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है। यही हान कहलाता है। यही पुरुष का मोक्ष कहलाता है। इस अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है।[1] केवलस्य भावः कैवल्यम्। पुरुष का गुणों से सर्वथा पृथक् होकर केवल अपने स्वरूप में स्थित रहना कैवल्य कहलाता है। अन्य स्थानों पर भी व्यास भाष्य में कैवल्य के लिए अपवर्ग शब्द का प्रयोग करते हुए उसका यही स्वरूप बतलाया गया है।[2] पतंजलि कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि जिन गुणों के फल भोग या अपवर्ग आदि प्राप्त हो चुके हैं, वे जब पुरुषार्थ शून्य होकर कार्य कारण भाव से उत्पन्न होने के अयोग्य हो जाएं, उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं अथवा बुद्धि तथा मन के सम्बन्ध से रहित ज्ञानशक्ति केवला कहलाती है उसके उसी स्वरूप में स्थिर रहने को कैवल्य कहते हैं।[3]

कैवल्य कब होता है—यद्यपि यहाँ पर कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए उस पर भी प्रकाश डाल दिया गया है कि कैवल्य कब होता है तथापि अन्य सूत्र में

---

१. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। यो० सू० २।२५। इस पर व्यास भाष्य दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानम्, तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम्।

२. भोक्तुः स्वरूपावधारणमवर्गः। यो० सू० २.१८, व्या० भा० पृ० ७४
या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः।
यो० सू० २.२३, व्या० भा० पृ० ८२

३. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। यो० सू० ४.३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतंजलि और भी स्पष्टता पूर्वक कहते हैं कि बुद्धि तथा पुरुष में शुद्धि की समता होने पर कैवल्य होता है।[1] भाव यह है कि बुद्धि जब पुरुष के समान निर्मल अर्थात् रजोगुण तथा तमोगुण आदि दोषों से शून्य हो जाती है, तब कैवल्य होता है। व्यास भाष्य में इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञान से अदर्शन की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् द्रष्टा पुरुष को अपने स्वरूप का दर्शन हो जाता है। अदर्शन के निवृत्त हो जाने पर अविद्या आदि क्लेशों की निवृत्त हो जाती है। क्लेशों के अभाव में कर्म फल की निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था में अपना कार्य समाप्त कर चुकने वाले गुण दृश्यभाव से पुरुष को प्राप्त नहीं होते। यही पुरुष का कैवल्य है। इस अवस्था में पुरुष प्रकाश स्वरूप, स्वरूप मात्र से अवस्थित रहता है।[2]

क्लेश कर्म निवृत— योगी को धर्म मेघ नामक समाधि की प्राप्ति के उपरान्त उसके क्लेश तथा कर्म समाप्त हो जाते हैं। इसका क्रम पूर्वक वर्णन करते हुए पतंजलि कहते हैं कि जब योगी प्रसंख्यान में भी तृष्णा रहित हो जाता है तब उसे धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है।[3] प्रसंख्यान का अर्थ है—क्रम से स्थित जो तत्त्व हैं उनके स्वरूप का यथावत् ज्ञान। जब इस यथावत् ज्ञान को प्राप्त करके योगी को तत्त्वों में भी वितृष्णा अथवा फलप्राप्ति की अनिच्छा होती है तब योगी को ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् तब विवेक ख्याति सब प्रकार से दृढ हो जाती। इस अवस्था में धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है। पतंजलि के अनुसार इस धर्ममेघ समाधि को प्राप्त करके क्लेश तथा कर्म समाप्त हो जाते है।[4]

इसी विषय को और भी स्पष्ट करते हुए पतंजलि कहते हैं कि सत्वपुरुषान्यथा ख्याति को प्राप्त करके योगी को सर्वज्ञातृत्व तथा सर्वभावधिष्ठातृत्व

---

१. सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। यो० सू० ३.५५

२. चरितार्थाधिकाराश्चैतस्यामवस्थां गुणा न पुरुषस्य दृश्यत्वेन पुनरूपतिष्ठन्ते तत् पुरुषस्य कैवल्यम्, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति। यो० सू० ३.५५ व्या० भा० पृ० १५५

३. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। यो० सू० ४.२९

४. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। यो० सू० ४.३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त होता है।[1] अभिप्राय यह है कि रजोगुण तथा तमोगुण से रहित बुद्धि के परम वैशारद्य (स्वच्छता) को प्राप्त करके वशीकार संज्ञा में वर्त्तमान योगी जब बुद्धि तथा पुरुष (अपने स्वरूप) को पृथक्-पृथक् देख लेता है तब उसको सर्वज्ञातृत्व तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व की प्राप्ति होती है। यह विशोका नाम की सिद्धि है। इसे प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ अवस्था में रहता है। उसके समस्त क्लेशों का बन्धन क्षीण हो जाता है।[2] ये अविद्या आदि क्लेश ही विविध दोषों के बीज अर्थात् कारण हैं। इन क्लेशों के नष्ट हो जाने पर ही कैवल्य होता है।[3] इस अवस्था में चितिशक्ति अर्थात् पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। पुरुष अपरिणामी, शुद्ध तथा बुद्धि से पृथक् है। इस अवस्था में मन के सहित सभी क्लेश नष्ट होकर पुनः फलोत्पादन में उसी प्रकार असमर्थ हो जाते हैं यथा अग्नि से दग्धबीज पुनः अंकुरोत्पादन में असमर्थ बन जाता है।

उपनिषदों में मुक्ति—उपनिषदों में मुक्ति का स्वरूप योगदर्शन के समान ही वर्णित है। छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि मृत्यु के अनन्तर परं ज्योति अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करके योगी अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।[4] यह बात यो० सू० १.२ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थाम्' के अनुसार ही कही गयी है। जिस प्रकार योगदर्शन में मुक्ति से पूर्व क्लेश तथा कर्मों की निवृत्ति को आवश्यक बतलाया गया है उसी प्रकार उपनिषदों में भी मुक्ति से पहले सभी कामनाओं अथवा हृदय ग्रन्थियों का नाश आवश्यक कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि कृतात्मा अर्थात् आत्मदर्शन करने वाले योगी की समस्त कामनाएं इसी जीवन में समाप्त हो

---

१. सत्वपुरुषान्यथाख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। यो० सू० ३.४९

२. एषा विशोका नाम सिद्धिः यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धानो वशी विहरति। उक्त सूत्र पर व्या० भा० पृ० १४८

३. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। यो० सू० ३.५०

४. अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणभिनिष्पद्यत एष आत्मेति। छान्दो ८.३.४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती हैं।[1] इसी प्रकार एक अन्य श्लोक जो कि कई उपनिषदों में पाया जाता है, में कहा गया है कि परमात्मा का साक्षात्कार करके हृदय की ग्रन्थियां खुल जाती हैं तथा समस्त संशयों का उच्छेद हो जाता है।[2]

इन ग्रन्थियों को गुहाग्रन्थी कहा गया है। गुहा का अर्थ हृदय है। इसका अर्थ हुआ कि हृदय की अज्ञान रूपी ग्रन्थियाँ नष्ट होने पर मोक्ष होता है। अथवा योगदर्शन में वर्णित अविद्या आदि पंच क्लेशों को ही यहां पर हृदय की ग्रन्थियां कहा गया है। जिस प्रकार ग्रन्थियाँ बन्धन का साधन होती हैं उसी प्रकार अविद्या आदि क्लेशों के कारण ही जन्ममरण होते हैं। इनसे छूटकर ही मोक्ष प्राप्त होता है। योगी केवल इन ग्रन्थियों से छूटता ही नहीं है अपितु अमृत भी हो जाता है।[3] यों भी कहा जा सकता है कि इन क्लेशों अथवा अविद्या ग्रन्थियों से छूटना ही मोक्ष है। बृहदारण्यको० तथा कठोपनिषद् में भी स्पष्ट रूप में कहा गया है कि जब हृदय में स्थित सभी कामनाएं छूट जाती हैं। तज योगी ब्रह्म को प्राप्त करके अमृत हो जाता है।[4] मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके विद्वान् पुरुष पुण्य तथा पाप से पृथक् होकर ब्रह्म की समता को प्राप्त कर लेता है।[5] ब्रह्म की समता को प्राप्त होने का संकेत योगदर्शन में भी प्राप्त होता है। वहां पर ईश्वर को क्लेश, कर्म, विपाक तथा वासनाओं से सर्वथा अछूता माना है जबकि जीवात्मा संसारावस्था में इन से युक्त रहता है तथा मुक्ति में इनसे छूट जाता है। दूसरे ईश्वर में निरति-

---

१. पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।

मुण्डको० ३.२.२

२. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुण्डको० २.२.८

३. गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। वही, ३.२.९

४. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति यत्र ब्रह्म समश्नुते।

कठो० ६.१४ तथा बृहदा० ४.४.७

५. यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

मुण्डको० ३.१.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शय सर्वज्ञता रहती है जबकि मुक्त पुरुष भी सर्वज्ञ तो बन जाते हैं।[1] किन्तु उनकी सर्वज्ञता निरतिशायी न होकर सापेक्ष होती है। बस ईश्वर तथा जीव में यही भेद रहता है। शेष बातों में दोनो में साम्य रहता है। श्वेताश्वरोपनिषद् में अविद्या आदि को पाश कहा गया है जो कि व्यक्ति को जन्ममरण में बाँधने वाले होते हैं। ब्रह्म को जानकर ये पाश नष्ट हो जाते हैं।[2]

मुक्ति की अवधि—यद्यपि योगसूत्रों में इस प्रकार के स्पष्ट संकेत नहीं है कि कैवल्य की कोई सीमा है या यह सदा के लिए हो जाता है। व्यास भाष्य के अनुसार यह मुक्ति अथवा कैवल्य आत्यन्तिक है। अर्थात् सदा के लिए हो जाता है।[3] मुक्ति के पश्चात् पुरुष का गुणों के साथ संयोग समाप्त हो जाता है। अतः वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। व्यासजी के अनुसार अविद्या ही संसार का कारण है। सम्यक् ज्ञान के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने से पुनः योगी के जन्ममरण नहीं होते[4] न्याय दर्शन में भी 'वीतारागजन्मादर्शनात्' (न्या० सू० ३.१.१५) कहकर यही प्रतिपादन किया गया है कि मुक्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। ईश्वर कृष्ण ने भी सांख्यकारिका की प्रथम कारिका में ही 'नैकान्तात्यन्तोऽभावात्' कहकर सांख्य शास्त्र की यही उपयोगिता सिद्ध की है कि सांख्य के द्वारा त्रिविध दुःख निवृत्ति सम्पूर्ण रूप में तथा सदा के लिए हो जाती है। स्वामी दयानन्द मुक्ति से पुनरावृत्ति स्वीकार करते हैं। इस

---

१. एषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी बिहरति। ३.४९ व्या० भा० पृ० १४८।

२. (क) ज्ञात्वा देवं सर्वपाशहानिः। श्वेता० १.१०,
(ख) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। वही २.१५

३. (क) गुणानां मनसि क्लेशकर्मविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानामप्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम्। तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुषः। यो० सू० ३.५०, व्या० भा० पृ० १४८
(ख) तस्यादर्शनस्याभावात् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरमइत्यर्थः। यो० सू० २।२५, व्या० भा० पृ० ८६
(ग) पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम्।
यो० सू० ३.५०, व्या० भा०, पृ० १४८

४. यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित्केनचित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति। यो० सू० ४.३०, व्या० भा० पृ० १७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय में उनका तर्क है कि मुक्ति कर्म द्वारा प्राप्य है। कर्म के द्वारा प्राप्य कोई भी वस्तु स्थायी नहीं हो सकती। यदि ऐसा न माने तो कार्यकरण भाव का सिद्धान्त नहीं बन सकता।

उपनिषदों में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके मृत्यु के मुख से छूट जाते हैं। इसका यही अभिप्राय समझा जा सकता है कि ब्रह्म प्राप्ति के पश्चात् जन्म-मरण का चक्कर छूट जाता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों में भी आत्यन्तिक मुक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है। कठोपनिषद् में एक स्थान पर स्पष्ट रूप में भी कह दिया गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके दोबारा जन्म नहीं होता।[1] यह कथन आत्यन्तिक मुक्ति की ओर ही संकेत करता है। प्रश्नोपनिषद् में भी इसी प्रकार कहा है।[2]

कठोपनिषद् के प्रारम्भ में यमाचार्य नचिकेता को प्रथम वर प्रदान करते हुए कहते हैं कि यहां से लौटने पर तुम्हारा पिता तुमको मृत्यु के मुख से छुटा हुआ देखेगा।[3] इसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि यमाचार्य के पास से लौटने पर नचिकेता ब्रह्म के स्वरूप को भली-भांति जान चुकेगा जिसके फल-स्वरूप वह पुनः-पुनः जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाएगा अर्थात् मुक्त हो जाएगा। क्योंकि जिस शरीर में नचिकेता यमाचार्य के सामने खड़ा है उसकी तो मृत्यु अवश्यम्भावी है। उसके इस शरीर को मृत्यु से छुटा हुआ नहीं माना जा सकता। हां, शरीर त्यागने के बाद पुनः उसके जन्म-मरण नहीं होंगे, यही मृत्यु के मुख से छूटने का अभिप्राय है। इसके आगे यमाचार्य जन्म तथा मृत्यु से छूटने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि तीन बार नचिकेताग्नि का चयन करने वाला, माता-पिता तथा आचार्य इन तीनों से सम्पर्क करने वाला तथा तीन प्रकार के कर्म करने वाला व्यक्ति जन्म तथा मृत्यु से छूट जाता है।[4] नचिकेता को मृत्यु मुख से छुड़ाने की प्रतिज्ञानुसार ही कठोपनिषद् की समाप्ति पर पुनः कहा गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके नचिकेता मृत्यु रहित हो गया।[5]

---

१. स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते। कठो० १.३.८

२. एतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः। प्रश्नो० १.१०

३. त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्। कठो० १.११

४. त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। कठो० १.१७

५. मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्मेव॥ कठो० ६.१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कथन से तो बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि शरीर त्यागने के अनन्तर नचिकेता के जन्म तथा मृत्यु नहीं होंगे क्योंकि वह ब्रह्म के स्वरूप को जानकर मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। यहां पर यह भी अवधेय है कि कठोपनिषद् की विद्या के साथ-साथ नचिकेता को योग विधि प्रदान की बात भी यहाँ पर कही गयी है। इसका सीधा सा अर्थ है कि योग विधि के द्वारा भी ब्रह्म की प्राप्ति होकर जन्म मृत्यु से छूट जाता है जिसको योगदर्शन में कैवल्य कहा है। इस प्रकार योगदर्शन तथा कठोपनिषद् का प्राप्तव्य एक ही है। श्वेताश्वर उपनिषद् में भी इसी के समान कहा गया है कि योगाग्निमय शरीर को प्राप्त करके जन्म मृत्यु नहीं होते।[1] कैवल्योपनिषद् में भी कहा गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके योगी मृत्यु को पार कर जाता है।[2] इनका अभिप्राय भी उक्त सन्दर्भ के अनुसार यही समझना चाहिए कि योगी मोक्ष को प्राप्त करके जन्म मरण के बन्धन से सर्वथा छूट जाता है।

योगदर्शन तथा उपनिषदों का समान उद्देश्य अविद्या की निवृत्ति करना है। योगदर्शन में अविद्या को पंचक्लेशों के अन्दर परिगणित किया गया है। व्यासजी के अनुसार सभी क्लेश अविद्या के ही भेद हैं।[3] उपनिषदों में विद्या अविद्या का विस्तार से वर्णन करके अविद्या की निवृत्ति होने पर विद्या अथवा ज्ञान से मुक्ति (अमृतत्व) की प्राप्ति कही है। अविद्या ही जन्म-मरण का कारण है।[4] इसके निवृत्त हो जाने पर जन्म मरण नहीं होते मृत्यु से छूटने का यही अभिप्राय है। उपनिषदों में जिसको ज्ञान कहा गया है योगदर्शन में उसे ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। इसका अर्थ है पुरुष को अपने स्वरूप का दर्शन अथवा ज्ञान। यह ज्ञान अथवा सम्यग्दर्शन ही प्रधान तथा पुरुष के संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति करने वाला है।[5] संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति होकर पुरुष का मोक्ष भी सदा के लिए ही हो जाता है उपनिषदों में इसके लिए कहा

---

१. न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।
श्वेता० २.१२

२. ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यथा। कैवल्यो० १.६

३. सर्वं एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। यो० सू० १.४, व्या० भा० पृ० ५४

४ यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। यो० सू० ४.३० पर व्या० भा० ४८०

५. संयोगस्यात्यान्तिकी निर्वृत्तिहनिम्। हानोपायः सम्यगदर्शनम्।
यो० सू० १.१५ व्या० भा० पृ० ७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है—यस्माद् भूयो न जायते। व्यास भाष्य में एक श्लोक उद्धृत करके ऐसे व्यक्ति को नित्य मुक्त होकर अमृत का भोग करने वाला है।[1] इन सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि उपनिषदों में अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत प्राप्ति की बात कही गयी है। प्रश्न है कि अविद्या से मृत्यु को कैसे पार किया जा सकता है? मृत्यु से छूटने का उपाय विद्या न होकर अविद्या कैसे है? इसका समाधान इस प्रकार है कि अविद्या को ही संसार अथवा जन्ममरण का कारण माना गया है। अर्थात् अविद्या जन्ममरण की प्राप्ति का साधन है। स्पष्ट है कि जो जिसका साधन होता है, उस साधन के होने पर ही वह कार्य होता है, उसके अभाव में वह कार्य नहीं होता। यथा घटनिर्माण का साधन चक्र, दण्डा आदि हैं। इनके न होने पर घड़ा नहीं बनेगा। इसी प्रकार अविद्या की विद्यमानता में ही जन्ममरण होते हैं अविद्या के अभाव में ये नहीं होंगे। इस प्रकार मृत्यु को तरने का साधन अविद्या का नाश सिद्ध हो गया। इसी को उपनिषदों में इस रूप में कह दिया गया कि अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है। यहां पर अविद्या का अभिप्राय अविद्या का नाश समझना चाहिए। उपनिषदों में मोक्ष के सन्दर्भ में परान्तकाल का प्रयोग भी हुआ है।[2] परान्तकाल का अर्थ अस्पष्ट है। यदि इसे समय विशेष के लिए प्रयुक्त माने तो इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि मोक्ष सावधि होता है।

यो० सू० १ १९ के व्यास भाष्य के अनुसार एक अवस्था ऐसी भी है जो कैवल्य के समान तो है किन्तु साक्षात् कैवल्य नहीं है। विदेह एवं प्रकृतिलय-योगी पूर्ण मुक्त नहीं होते अपितु कैवल्य जैसा ही अनुभव करते हैं क्योंकि इन का चित्त नष्ट नहीं होता जबकि मुक्ति में चित्त भी पूर्णतः नष्ट हो जाता है। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

(१) विदेह योगी पंचभूतों को ही आत्मा समझकर शरीर छोड़ने के उपरान्त पंचभूतों में ही लीन हो जाते हैं।

---

१. शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ।।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी ।।
यो० सू० २.३२, व्या० भा० पृ० २३४

२. ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।
कैवल्यो० १.४ तथा मुण्डको० ३.२.६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) दूसरे प्रकार के विदेहयोगी इन्द्रियों को ही आत्मा समझकर मृत्यु के अनन्तर इन्द्रियों में ही लीन हो जाते हैं। इन दोनो प्रकार के योगियों के साथ संस्कार मात्र से मन लगा रहता है।

(३) प्रकृतिलय योगी अव्यक्त प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार तथा पंचतन्मात्राओं को ही आत्मा समझते हुए, इनकी ही उपासना करने के कारण मृत्यु के उपरान्त इनमें ही लीन हो जाते हैं क्योंकि इन योगियों का अन्तःकरण उक्त प्रकृति आदि की वासना से युक्त रहता है। व्यासजी ने इन योगियों के चित्त के लिए साधिकार शब्द का प्रयोग किया है। वाचस्पति मिश्र ने साधिकार की व्याख्या इस प्रकार की है कि चित्त चरितार्थ नहीं रहता अर्थात् अपने प्रयोजन को पूर्ण नहीं कर पाता। चित्त की चरितार्थता यही है कि वह विवेकख्याति को उत्पन्न करे। इसे उत्पन्न न कर सकने के कारण वह चित्त साधिकार अथवा अचरितार्थ कहलाता है।[1]

दो प्रकार की मुक्ति—व्यास भाष्य में दो प्रकार की मुक्ति मानी गयी है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति को स्पष्ट करते हुए व्यासजी कहते हैं कि क्लेशों तथा कर्म आदि के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर विद्वान् पुरुष इसी जीवन में मुक्त हो जाता है।[2] यद्यपि जीवन्मुक्त विद्वान् भी अन्य व्यक्तियों की भाँति ही कार्य करता हुआ प्रतीत होता है किन्तु विवेकज्ञान उत्पन्न होने के कारण इसके कर्म कर्माशय को उत्पन्न नहीं करते जबकि अन्य व्यक्तियों के कर्म कर्माशय जनक होते हैं। मृत्यु के अनन्तर सदा के लिए जन्ममरण से छूटने को विदेह मुक्ति कहते हैं। पैङ्गल उपनिषद् में धर्ममेघ समाधि तथा उसके बाद होने वाली जीवन्मुक्ति का वर्णन बिल्कुल योगदर्शन के समान ही इस प्रकार किया गया है कि धर्ममेघ समाधि की अवस्था में वृत्तियां अज्ञात हो जाती हैं। स्मरण करने पर ही उनका पता चलता है। अब तक संचित कर्म तथा उनके परिणाम विलय को प्राप्त हो जाते हैं। अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर सदैव अमृतधारा बरसती रहती है। इस प्रकार वासनाजाल के निःशेष हो जाने पर कर्मसंचय तथा पुण्य, पाप नष्ट हो जाने पर योगी जीवन्मुक्त हो जाता है।[3]

---

१. साधिकारेऽचरितार्थे। एवं हि चरितार्थं चेतः स्याद्यदि विवेकख्यातिमपि जनयेदजनितसत्वपुरुषान्यथाख्यातेस्तु चेतसोऽचरितार्थस्यास्ति साधिकारतेति। त० वै० पृ० २०, यो० सू० १.१९

२. क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति।

३. पैङ्गलोपनिषद् २.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय

परिकर्म, अभ्यास, वैराग्य

परिकर्म

पतंजलि ने योगदर्शन के प्रथम पाद में चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास तथा वैराग्य का विधान किया है। वृत्तिनिरोध होने की अवस्था का नाम ही योग है।[1] यहां पर प्रयुक्त योग का अर्थ व्यास जी ने समाधि किया है।[2] इस समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेने पर द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाता है।[3] इसके पश्चात् पतंजलि ने चित्त प्रसादन के कुछ उपाय गिनाए हैं कि सुखी, दुःखी, पुण्यात्माओं तथा अपुण्यात्माओं के प्रति क्रमशः मैत्री करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा बुद्धि रखने से चित्तप्रसाद प्राप्त होता है।[4] व्यासजी ने इन उपायों को परिकर्म कहा है किन्तु सूत्रकार ने परिकर्म शब्द का उल्लेख नहीं किया। इसके साथ ही पतंजलि ने सात सूत्र और लिखे हैं।[5] कुछ विद्वानों के अनुसार इन आठों की परिकर्म संज्ञा है जबकि अन्य केवल मैत्री, करुणा आदि चारों उपायों को परिकर्म कहते हैं तथा शेष सात सूत्रों को चित्त स्थिति के सात उपाय मानते हैं। इसके बाद सबीज तथा निर्बीज समाधियों का स्वरूप दिखलाकर द्वितीय पाद के प्रारम्भ में पतंजलि तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान के रूप में क्रियायोग का विधान करते हैं।[6] इसके पश्चात् यम-नियम,

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो० सू० १.२

२. योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चितस्य धर्मः। यो० सू० १.१, पृ० २

३. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् यो० सू० १.३

४. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनाश्चित्तप्रसादनम्। यो० सू० १.३३

५. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी। विशोका वा ज्योतिष्मती। वीतरागविषयं वा चित्तम्। स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। यथाभिमतध्यानाद्वा। परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। यो० सू० १.३४-४०

६. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। यो० सू० २.१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान तथा समाधि इन आठ योगांगों का उल्लेख पतंजलि ने किया है। (यो० सू० २.२९) ये आठों अंग योग अर्थात् समाधि के अंग हैं। इनसे समाधि सिद्ध होती है। क्रियायोग के रूप में वर्णित तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को पतंजलि ने योग के द्वितीय अंग नियमों के अन्तर्गत भी माना है।[1] तथा ईश्वरप्रणिधान का फल समाधि की सिद्धि कहा है।[2]

इस प्रकार पतंजलि ने अभ्यास, वैराग्य, मैत्री आदि परिकर्म क्रियायोग तथा अष्टांग योग का विधान पृथक्-पृथक् स्थानों पर किया है। इन सूत्रों को देखने से यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि पंतजलि को इनमें से क्या अभीष्ट है। तथा उन्होंने किस उपाय को किस अधिकारी के लिए निर्दिष्ट किया है। योगसूत्रों पर भाष्य, टीकाएं एवं अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वाले विद्वानों के विचार इस विषय में भिन्न-भिन्न रहे हैं। वे इनको पृकक्-पृथक् उपाय मानते हुए आधिकारी भेद से इनका विधान मानते हैं। यथा—

(१) क्रियायोग की उत्थानिका में व्यास जी ने लिखा है—'उदिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते' (व्या० भा० पृ० ५१) इस पंक्ति में इतना ही कहा गया है कि समाहित चित्त वालों के लिए योग का विधान कर दिया गया अब व्युत्थित चित्त वालों के लिए इसका प्रारम्भ किया जा रहा है। यहां पर व्यास जी ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि 'एतदारभ्यते के द्वारा उनको केवल क्रियायोग अभीष्ट है या क्रियायोग तथा अष्टांगयोग का प्रतिपादक सम्पूर्ण द्वितीय पाद। डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी के अनुसार भाष्यकार ने क्रियायोग तथा अष्टांगयोग के प्रतिपादक साधन पाद के अधिकारी को ही यो० सू० २.१ की उत्थानिका में व्युत्थितचित कहा है।[3] किन्तु ऐसा नहीं है। भाष्यकार का संकेत यो० सू० २.१ की उत्थानिका में 'एतदारभ्यते' के द्वारा केवल क्रियायोग की ओर ही है, सम्पूर्ण द्वितीय पाद की ओर नहीं, क्योंकि योगांगों (यो० सू० २.२९) के उल्लेख से पूर्व पतंजलि ने विवेक ख्याति को हान =(संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति) का उपाय

---

१. शौचसन्तोषतपःस्वाध्ययेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (यो० सू० २.३२)
२. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू० २.४५)
३. पातंजल योगदर्शन, एक अध्ययन, पृ० १५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बतलाया है।[1] इसके पश्चात् व्यासजी लिखते हैं 'सिद्धा भवति विवेकख्याति र्हानोपाय इति। न च सिद्धिमन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते।'[2] स्पष्ट है कि यहां पर प्रसंग है—विवेकख्याति के साधन योगांगों के वर्णन का, न कि योग के अधिकारियों के वर्णन का। इन योगांगों का विधान किस प्रकार के अधिकारी के लिए किया गया है, यह न तो सूत्रकार ने बतलाया है तथा न हि भाष्यकार ने इस सम्बन्ध में कुछ कहा है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि व्यासजी यम-नियमादि योगांगों को व्युत्थित चित्त वालों के लिए मानते हैं। दूसरे, यो० सू० २.१ की व्युत्थानिका में भाष्यकार का 'व्युत्थित चित्त पद भी अस्पष्ट ही है। व्याख्याकारों ने इसके अलग-अलग अर्थ किए हैं। भोज ने क्षिप्त, मूढ तथा विक्षिप्त इन तीन भूमियों का ग्रहण इसके द्वारा किया है।[3] विज्ञान-भिक्षु ने एक स्थान पर तो क्रियायोग को मध्यम अधिकारियों के लिए माना है।[4] तथा एक-दूसरे स्थान पर इसे ही मन्द अधिकारी के लिए कहा है।[5] अभ्यास तथा वैराग्य के अधिकारियों के विषय में भी सूत्रकार तथा भाष्यकार ने कुछ नहीं कहा है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि (१) अभ्यास वैराग्य, मैत्री आदि परिकर्म, क्रियायोग तथा यम-नियम आदि योगांगों का विधान सूत्रकार ने स्पष्टतः अलग-अलग अधिकारियों के लिये नहीं किया है। (२) व्यासजी ने योगदर्शन के प्रथम पादोक्त योग को समाहित चित्त वालों के लिए तथा तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान रूपी क्रियायोग को व्युत्थित चित्त वालों के लिए माना है जबकि मैत्री आदि परिकर्म तथा यम-नियम आदि योगांगों के विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा।

वाचस्पति मिश्र परिकर्म को भी व्युत्थित चित्तवालों के लिए मानते हैं जबकि व्यासजी ने केवल क्रियायोग के विषय में ऐसा कहा है परिकर्म के विषय

---

१. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। यो० सू० २.२६

२. योग सू० २.१, पृ० ८८

३. तत्र क्षिप्तमूढे चित्तभूमिव्युत्थानम् विक्षिप्ता भूमिश्च।
यो० सू० १.१८, भोजवृत्ति पृ० ५८

४. अथ मध्यमाधिकारिणो युञ्जानस्य वानप्रस्थादेः प्रकृष्टक्रियायोगरूपं योग-साधनं निरूप्यते। योग सार संग्रह पृ० ३०

५. मन्दाधिकारिणां तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्ये-तत्पादस्यादावुक्तानि। योगवार्त्तिक २.२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्पष्टतः कुछ न कहकर 'यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते' केवल इतना ही कहा है। यस्य की व्याख्या ही वाचस्पति मिश्र ने व्युत्थित चित्त की है।[१] विज्ञान भिक्षु अष्टांग योग को मंद अधिकारी के लिए मानते हैं।[२] भाव गणेश क्रियायोग तथा अष्टांगयोग में विशेष भेद न करते हुए यमनियमादि को भी क्रियायोग कहते हैं तथा इनमें से ही पृथक् करके कहे गए तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को मध्यम अधिकारी के लिए कहते हैं।[३] वाचस्पति मिश्र के अनुसार व्युत्थितचित्त वालों के लिए भी अभ्यास तथा वैराग्य अपेक्षित हैं किन्तु वे उनको सहसा नहीं कर सकते इसलिए सत्त्वशुद्धि के लिए उनके लिए पहले क्रियायोग का विधान किया गया है। क्रियायोग से सत्त्व शुद्धि करके ही वे अभ्यास तथा वैराग्य कर सकते हैं।[४] भोज ने भी ऐसा ही कहा है।[५] इस प्रकार प्रतीत होता है इन साधनों के अधिकारियों के विषय में सभी टीकाकार एकमत नहीं हैं। सभी ने अपने-अपने विचार से इनकी व्याख्या की है। विभिन्न टीकाओं के विचारों के संकलन के पश्चात् डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने इन साधनों के अधिकारियों का विभाजन इस प्रकार किया है (१) अभ्यास वैराग्यादि की साधना एकाग्रचित्त व्यक्ति के लिए (२) परिकर्म का अभ्यास विक्षिप्त चित्त वालों के लिए (३) क्रियायोग का विधान क्षिप्त चित्त के लिए (४) अष्टांग योग का विधान मूढचित्त भूमि वाले अभ्यासी के लिए।[६] कहना न होगा कि डा० अवस्थी द्वारा किया गया यह अधिकारी विभाजन उक्त टीकाकारों के विचार से मेल नहीं खाता। यथा – परिकर्म को डा० अवस्थी विक्षिप्त चित्त

---

१. यस्य चितस्य व्युत्थितस्येदं परिकर्म इत्यर्थ।
यो० सू० २.३३ पर त० वै० पृ० ३५

२. अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि।
—यो० वा० पृ० २३९

३. यद्यपि वक्ष्यमाणा यमनियमादयः सर्वेऽपि क्रियायोगस्तथापि तेभ्यः समाहृत्य प्रकृष्टसाधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं प्रत्युपदिष्टम् भावगणेशवृत्ति २.१

४. यो० सू० २.१ पर त० वै० पृ० ५१

५. व्युत्थितचित्तस्यापि कथमभ्यासपूर्वको योगः स्वास्थ्यमुपयातीति तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह। यो० सू० २.१ पर भोजवृत्ति पृ० १४

६. पातंजल योग शास्त्र एक अध्यापन पृ० १५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वालों के लिए मान रहे हैं जबकि वाचस्पति मिश्र व्युत्थित चित्त वालों के लिए।

हमारे विचार से पतंजलि द्वारा उपदिष्ट अभ्यास वैराग्य, परिकर्म, क्रिया-योग तथा यम-नियम आदि योगांग पृथक्-पृथक् मार्ग न होकर सभी मिलकर एक ही लक्ष्य के प्रतिपादक हैं। और वह लक्ष्य है चित्तवृत्तिनिरोध अथवा योग। इसे ही व्यासजी ने समाधि कहा है। पतंजलि ने अलग-अलग अधिकारियों के लिए अलग-अलग उपायों का विधान नहीं किया, अपितु समाधि की सिद्धि के लिए ही सम्पूर्ण योगशास्त्र का निर्माण किया है। उस समाधि के यम-नियम आदि आठ अंग हैं जिनका उपदेश सामान्यतः सबके लिए ही है किसी अधिकारी विशेष के लिए नहीं। समाधि की सिद्धि के लिए इसके सहायक प्रतिपक्षी तथा प्रतिपक्षियों के नाशक उपायों का विचार भी उन्होंने बीच-बीच में किया है किन्तु उनका अन्तिम प्राप्तव्य एक है और वह है योग अथवा समाधि। इसकी प्राप्ति के एकमात्र साधन यम-नियम आदि योगांग हैं।

यद्यपि योगदर्शन के भाष्य तथा टीकाकारों के विचार, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस विषय में भिन्न-भिन्न हैं किन्तु किसी भी ग्रन्थकार के अभिप्राय को समझने के लिए उसके भाष्य टीकाओं की अपेक्षा ग्रन्थकार के मूल-विचारों को अधिक प्रामाणिक मानना चाहिए। इस विषय में भी ऐसा ही है। योगदर्शन सूत्रात्मक होते हुए भी एक निश्चित प्रक्रिया का प्रतिपादक ग्रन्थ है। जिस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्रों में क्रमबद्धता तथा विषयनिबद्धता है उसी प्रकार योगदर्शन के सूत्र तथा चारों पाद भी परस्पर सम्बन्धित हैं तथा एक क्रमिक मार्ग का निर्देशन मिलकर कर रहे हैं न कि पृथक्-पृथक्। इनमें सबसे पहला समाधिपाद है। इनमें योगानुशासनम् से प्रारम्भ करके 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' (यो० सू० २) के द्वारा योग की परिभाषा करते हुए अन्तिम सूत्रों में (यो० सू० १.४१-५१) सबीज तथा निर्बीज समाधियों का वर्णन करते हुए योग अथवा समाधि के स्वरूप को अति स्पष्टता के साथ समझा दिया गया है। समाधिपाद में यही अपेक्षित था। इसके अतिरिक्त इसी पाद में चित्तवृत्तियों की संख्या उनका स्वरूप, प्रकार, संक्षेप में वृत्तिनिरोध के उपाय, समाधि के प्रतिपक्षी, इन प्रतिपक्षियों के नाश के उपाय भी समझा दिये हैं क्योंकि यह सब कुछ समाधि अथवा योग से ही सम्बन्धित था। इस प्रकार से इस पाद के सूत्र चित्तवृत्ति तथा इनके निरोध से प्राप्तव्य समाधि के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। इसलिए इनका नाम समाधिपाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस समाधि की प्राप्ति के क्या उपाय हैं, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है अतः द्वितीयपाद में ही समाधि के साधनों का उल्लेख किया गया है। ये साधन क्रियायोग तथा यम-नियमादि के रूप में बतलाए गए हैं। नियमों के अन्तर्गत ही क्रियायोग में वर्णित तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान भी हैं। अतः क्रियायोग तथा अष्टांगयोग पृथक्-पृथक् मार्ग न होकर एक ही हैं। इसी पाद में प्रसंगतः प्राप्त हेय, हेयहेतु, हान तथा हान के उपाय का वर्णन भी कर दिया गया (यो० सू० २.१६-१७, २५-२६) विवेकख्याति ही हान का उपाय है तथा इस विवेकख्याति को प्राप्त करने का साधन अष्टाँग योग है। तृतीय पाद में धारणा, ध्यान समाधि का वर्णन करते हुए समाधि प्राप्ति के समय होने वाली विभिन्न सिद्धियों का वर्णन कर दिया गया। इसीलिए इसका नाम विभूति पाद है। चतुर्थ कैवल्यपाद है इसमें कैवल्य का स्वरूप समझाया गया है। यह वही कैवल्य है जिसका संकेत प्रथमपाद में कर दिया गया था। कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए पतंजलि योगदर्शन के सबसे अन्तिम सूत्र में कहते हैं कि पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चित्तिशक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित होना कैवल्य है।[1] कैवल्य के इसी रूप का संकेत पतंजलि ने प्रथम पाद में 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो०-सू० १.३) कहकर दे दिया था। इसकी व्याख्या में व्यासजी ने लिखा है—स्व-रूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये।' व्यासजी ने यहां पर यो० सू० ४.३४ के शब्दों को ही उद्धृत कर दिया है। अभिप्राय यह है कि असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करके द्रष्टा अर्थात् चितिशक्ति अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। यह स्थिति परवैराग्य से प्राप्त होती है। यह अवस्था ज्ञानप्रसाद मात्र है। इसके तुरन्त बाद कैवल्य प्राप्त होता है। कैवल्य में भी चितिशक्ति अपने स्वरूप में स्थित रहती है।

पतंजलि ने अभ्यास वैराग्य, परिकर्म, क्रियायोग तथा यम-नियमादि का विधान करके इनके साथ ही इनके फलों का वर्णन भी कर दिया है। इन सबको एक श्रृंखला में रखकर देखने से यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि पतंजलि का अभिप्राय क्या रहा है। यदि पौर्वापर्य का ध्यान रखें तो योगदर्शन के सूत्रों

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वाचित्तिशक्ति-रिति। (यो० सू० ४.३४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही अन्य सूत्रों का अर्थ उसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है यथा अष्टाध्यायी के सूत्रों से अन्य सूत्रों का अर्थ। नीचे इनके सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

वृत्तियों के निरोध को योग बतलाकर पतंजलि ने इन वृत्तियों के निरोध के उपाय सर्वप्रथम अभ्यास तथा वैराग्य कहे हैं।[१] अभ्यास तथा वैराग्य की परिभाषा भी स्वयं पतंजलि ने दे दी है। उनके अनुसार अभ्यास है 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (यो० सू० १.१३) यहां पर प्रयुक्त 'स्थिति' पद को स्पष्ट करते हुए व्यासजी कहते हैं 'चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः'। अर्थात् चित्त के वृत्तिरहित होकर शान्तप्रवाह में बहने को स्थिति कहते हैं। वाचस्पति मिश्र इसका अर्थ करते हैं कि राजस तथा तामस वृत्तियों से रहित सात्त्विकवृत्ति वाहिता ही स्थिति कहलाती है। यही एकाग्र अवस्था है।[२] यहां पर अपनी व्याख्या में प्रयुक्त 'प्रशान्तवाहिता' पद व्यासजी ने पतंजलि के सूत्र 'तस्य-प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (यो सू० ३.१०) से ही ग्रहण किया है।[३] इसके ठीक पहले सूत्र में पतंजलि ने कहा है कि व्युत्थान तथा निरोध के संस्कारों का अभिभव प्रादुर्भाव होता रहता है। अर्थात् व्युत्थान = सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों का अभिभव तथा निरोध = असम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों का प्रादुर्भाव होता रहता है। इसी स्थिति को पतंजलि प्रशान्तवाहिता कहते हैं। यह प्रशान्तवाहिता कैसे होती है, इसका उत्तर स्वयं पतंजलि ने सूत्र में ही दे दिया है—संस्कारात्। निरोध संस्कार से चित्त की यह प्रशान्तवाहिता होती है। व्यासभाष्य[४] तथा तत्त्ववैशारदी[५] में संस्कारात् पद की व्याख्या इसी रूप में की गयी है। यह संस्कारवाहिता असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति है। इसमें निरोध का संस्कारमात्र शेष रह जाता है। इसी के लिए पतंजलि ने 'संस्कारात्'

---

१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। यो० सू० १.१२

२. राजसतामसवृत्तिरहितस्य प्रशान्तवाहिता विमलता सात्त्विकवृत्तिवाहितै-काग्रता स्थितिः। त० वै० पृ० १६

३. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ०। यो० सू० ३.९

४. निरोध संस्काराद् प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति।
व्यास भाष्य पृ० १.९

५. व्युत्थानसंस्कारमलरहितविरोधसंस्कारपरम्परामात्रवाहिता प्रशान्तवाहिता (त० वै० पृ० १०८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा है तथा इसी स्थिति का उल्लेख प्रथम पाद में इस प्रकार किया है— विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः (यो० सू० १.१८) अर्थात् जिसमें केवल संस्कार मात्र शेष रह जाएं, वह चित्त का निरोध असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इसी संस्कारवाहिता के लिए यो० सू० १.१३ में पतंजलि ने 'स्थिति' पद का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या वहां पर व्यासजी ने 'प्रशान्त वाहिता' कहकर ही की है।

अभ्यास—इस स्थिति के लिए यत्न करने को अभ्यास कहते हैं। यह यत्न क्या है, तथा किस प्रकार करना चाहिए, इसे सूत्रकार ने स्पष्ट किया है। सम्भवतः इस भ्रान्ति से अभ्यास तथा वैराग्य को अलग से ही उपाय मान लिया गया है। 'यत्न' की व्याख्या में व्यास जी लिखते हैं 'तत्संपिपादयिषा तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः' यहां पर व्यास जी ने भली-भांति स्पष्ट कर दिया है कि उक्त 'स्थति' अर्थात् 'प्रशान्तवाहिता' के साधनो का अनुष्ठान ही अभ्यास कहलाता है। अब देखना यह है कि 'स्थिति' (प्रशान्तवाहिता) के साधन क्या हैं ? पतंजलि ने इनका विधान कहां किस रूप में किया है ? योग दर्शन के अगले पादों से इसका स्पष्टीकरण प्राप्त हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि व्युत्थान तथा निरोध के संस्कारों के अभिनव, प्रादुर्भाव के पश्चात् यह प्रशान्तवाहिता प्राप्त होती है। इससे पूर्व पतंजलि ने यम-नियम आदि योगांगों का विधान किया है। इनमें धारणा, ध्यान, समाधि के एक विषय वाला होने को संयम कहते हैं।[1] संयम के जीतने से समाधि प्रज्ञा का आलोक प्राप्त होता है। इसके पश्चात् व्युत्थान के संस्कारों का अभिभव तथा निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव होने पर चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है। उक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि स्थिति अर्थात् प्रशान्तवाहिता योग के यम-नियम आदि आठों अंगों के अभ्यास से ही प्राप्त होती है। अतः निश्चत रूप में कहा जा सकता है कि 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (यो० सू० १.१३) में अभ्यास से पतंजलि का तात्पर्य यम-नियम आदि आठों अंगों के अभ्यास से ही है। इसी-लिए वाचस्पति मिश्र ने व्यास भाष्य के 'तत्साधन' पद को स्पष्ट करते हुए लिखा है -स्थितिसाधनान्यन्तरङ्गबहिरङ्गाणि यमनियमादीनि'।[2] अभ्यास तप, ब्रह्मचर्य, विद्या तथा श्रद्धा के द्वारा सम्पादित किया जाकर ही दृढ़

१. त्रयमेकत्र संयमः। तज्जयात्प्रज्ञालोकः (यो० सू० ३.४.५)

२. यो० सू० १.१३ पर त० वै० पृ० १७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमि वाला होता है[१]। यहां पर आए हुए तप, ब्रह्मचर्य यम-नियमों में समाविष्ट हैं ही। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभ्यास से तात्पर्य अष्टांगयोग के अभ्यास से ही है।

वैराग्य—अभ्यास के साथ वैराग्य भी चित्तवृत्ति निरोध का उपाय बतलाया गया है। दोनों को एक सूत्र में इकट्ठे देखकर इन दोनो को अलग से ही उपाय विशेष मान लिया गया किन्तु अभ्यास के समान वैराग्य भी पृथक् से कोई उपाय नहीं है। सामान्य रूप में सबके लिए पतंजलि ने इसका विधान किया है। वैराग्य की परिभाषा स्वयं देते हुए पतंजलि कहते हैं कि दृष्ट = इहलौकिक तथा आनुश्रविक = पारलौकिक विषयों के प्रति तृष्णारहित हो जाना वशीकार संज्ञक वैराग्य है।[२] इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि राग द्वेष से रहित उपेक्षा बुद्धि को वशीकार संज्ञक वैराग्य कहते हैं।[३] राग द्वेष की गणना क्लेशों के अन्तर्गत की गई है। क्लेशों के तनूकरणार्थ पतंजलि ने क्रियायोग का विधान किया है।[४] इस प्रकार तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान रूपी क्रियायोग के द्वारा ही राग, द्वेष नष्ट हो जायेंगे। वैराग्य अलग से कोई साधन नहीं है। वैराग्य अलग से कोई ऐसा उपाय नहीं है कि जिसे अपनाकर चित्तवृत्तियों का निरोध किया जा सके। पतंजलि के अनुसार विवेकी पुरुष सुखदायी पदार्थों को भी दुःख ही मानता है क्योंकि परिणाम, ताप तथा संस्कार के दुःखों के कारण उसके लिए सभी कुछ दुख ही है।[५] पतंजलि का सूत्र वैरोग्योत्पादक ही है क्योंकि सभी को दुःखदायी समझकर योगी विषयों के प्रति आकृष्ट न होकर राग द्वेष से दूर रहता है। यमों के अन्तर्गत अपरिग्रह तथा नियमों के अन्तर्गत सन्तोष वैराग्योत्पादक ही हैं। अर्जन, रक्षक, क्षय, सङ्ग तथा हिंसा आदि दोषों से युक्त होने के कारण योगी विषयों को स्वीकार नहीं करता। उक्त दोष दर्शन के कारण उसकी प्रवृत्ति

---

१. तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति।
योo सूo १.१४ पर व्याo भाo पृo १७

२. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। योo सूo १.१५

३. आसङ्गद्वेषरहितोपेक्षाबुद्धिर्वशीकारसंज्ञां। १.१५ पर तo वैo पृo १७

४. समाधिभावनार्थः क्लेशननूकरणार्थश्च। योo सूo २.२

५. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु.खमेव सर्वं विवेकिनः।
योo सूo १.१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें नहीं होती। यह अपरिग्रह है।[1] विषयों में उक्त दोष दर्शन की प्रवृत्ति से विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। अर्थात् उन विषयों के प्रति योगी सर्वथा तृष्णा रहित हो जाता है। वैराग्य के बाद प्रत्याहार की स्थिति आ जाती है।[2] विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर इन्द्रियों में परमावश्यता प्राप्त होती है।[3] परमावश्यता का अर्थ है कि चित्त तथा इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति ही नहीं होती। यह चित्त की एकाग्र अवस्था का वर्णन है।[4]

इस वशीकार संज्ञक वैराग्य को प्राप्त करके योगी के चित्त में तत्त्वों के प्रत्यक्षीकरण की योग्यता प्राप्त होती है। इसके पश्चात् श्रद्धा, वीर्य स्मृति तथा समाधि प्राप्त होती है।[5] यहां पर विज्ञान भिक्षु के अनुसार वीर्य का अर्थ धारणा, स्मृति का अर्थ ध्यान तथा समाधि का अर्थ सम्प्रज्ञात समाधि है।[6] वाचस्पति मिश्र भी स्मृति का अर्थ ध्यान करते हैं। उनके अनुसार यह सम्प्रज्ञात समाधि समस्त योगांगों से युक्त योगी को प्राप्त होती है।[7] इस प्रकार अन्य योगांगों के अनुष्ठान पूर्वक ही वैराग्य सम्प्रज्ञात समाधि की उत्पत्ति में सहायक बनता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। १.२० सूत्र के अनुसार धारणा, ध्यान तथा सम्प्रज्ञात समाधि भी श्रद्धापूर्वक करने चाहिए।[8]

---

१. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।
योο सूο २.३० पर व्याο भाο पृο ९२

२. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
योο सूο २.५४

३. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। योο सूο २.५५

४. चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः।
उक्त सूत्र पर व्याο भाο पृο १०३

५. तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां चित्तं समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति। तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भवन्तीति। योο सूο १।३५ पर व्याο भाο पृο ३६

६. तदेवं श्रद्धामूलकाद्धारणाद्यन्तरङ्गत्रयात्सम्प्रज्ञातयोगे ज्ञायमाने०
योगο भाο पृο ६०

७. स्मृतिर्ध्यानम्। तदेवमखिलयोगांगसम्पन्नस्य सम्प्रज्ञातो जायते।
१.२० पर तο वैο पृο २२

८. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वमितरेषाम्। योο सूο १.२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करके प्रज्ञा का विवेक प्राप्त होता है। जिससे योगी प्रत्येक वस्तु को यथार्थ रूप से जान लेता है।[१] प्रज्ञा के विवेक का अर्थ प्रज्ञा का प्रकर्ष है।[२] यह वही प्रज्ञा है जो निर्विचार समाधि (सम्प्रज्ञात की अन्तिम अवस्था) के वैशारद्य से अध्यात्मप्रसाद[3] प्राप्त होने पर उत्पन्न होती है।[४]

यहां तक सम्प्रज्ञात समाधि का विवेचन किया गया है जो कि अपर वैराग्य से प्राप्त होती है। इसके बाद पर वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। इसका क्रम यह है—अपर वैराग्य से सत्वपुरुषान्यथाख्याति का उदय होने पर सत्वादि गुणों में भी तृष्णा का अभाव हो जाता है। यही पर वैराग्य है।[५] इसी पर वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।[६] सम्प्रज्ञात समाधि श्रद्धा वीर्य तथा ध्यानपूर्वक प्राप्त हुई थी।[७] अपर वैराग्य इसकी की उत्पत्ति में कारण था। इन्ही श्रद्धादि का अभ्यास करने पर सम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात् (ऋतम्भरा) प्रज्ञा का उदय होने पर वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती हैं।[८] इसी को निर्बीज समाधि भी कहते हैं।[९] इसमें सभी वृत्तियों का अभाव होकर पर वैराग्य के संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं।[१०] इस समाधि को निर्बीज इसलिए कहते हैं कि इस अवस्था में चित्त का कोई भी आलम्बन नहीं रहता अथवा क्लेश कर्माशय रूपी बीज का इस अवस्था

१. समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्त्तते, येन यथार्थं वस्तु जानाति।
योο सूο १.२० पर व्याο भाο ६२

२. प्रज्ञाया विवेकप्रकर्ष उपजायते। योο सूο १.२० पर तο वैο पृο २२

३. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। योο सूο १.४७

४. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योο सूο १.४८

५. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। योο सूο १.१६

६. तस्य परं वैराग्यमुपायः। १.१८ पर व्याο भाο पृο ३०

७. एते सम्प्रज्ञातस्य समाधेरुपायाः। भोο वृο पृο ६४

८. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् योο सूο १.२०

९. तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधि रसम्प्रज्ञातः। योο सूο १.१८ पर व्याο भाο पृο २०

१०. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। योο सूο १.१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सर्वथा अभाव हो जाता है ।[1]

यह असम्प्रज्ञात समाधि पर वैराग्य से प्राप्त होती है । यह अवस्था ज्ञान-प्रसादमात्र है क्योंकि ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य कहलाती है । कैवल्य इस अवस्था के बिल्कुल पास (अव्यवहित) ही है ।[2] इसका क्रम इस प्रकार है—निरोध के संस्कार ही संस्कार शेष कहलाते हैं । असम्प्रज्ञात समाधि में निरोध के संस्कार ही शेष रहते हैं । जैसे अग्नि में डाला गया सीसा स्वर्ण के मैल को जलाने के पश्चात् स्वयं भी जल जाता है इसी प्रकार एकाग्रता के संस्कारों को नष्ट करके निरोध के संस्कार स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं । इस संस्कार शेष की निवृति का नाम ही कैवल्य है । असम्प्रज्ञात समाधि तथा कैवल्य में यही भेद है । यह पर वैराग्य धर्ममेध समाधि का ही भेद है ।[3] इस प्रकार अभ्यास की भांति वैराग्य भी अन्य योगांग पूर्वक समाधि की प्राप्ति में सहायक बनता है ।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि यम से लेकर प्रत्याहार तक योग के पांचों अंग वैराग्य प्राप्ति में सहायक हैं तथा यम आदि आठों अंगों का अनुष्ठान करना ही अभ्यास कहलाता है । इस प्रकार अभ्यास तथा वैराग्य अष्टांग योग से अतिरिक्त साधन नहीं हैं । अष्टांग योग में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है । इसी प्रकार उपायप्रत्यय योगियों के लिए कहे गए श्रद्धा वीर्य आदि उपाय भी अन्य योगांगों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं ।[4] 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (१।१२) में चर्चित अभ्यास अलग से कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं है कि जिनको अपनाकर वृत्तिनिरोध होता हो अपितु स्थिति अर्थात् चित्त

---

१. आलम्बनीकरणमाश्रयणमभावप्राप्तमिव वृत्तिरूपकार्याकरणान्निर्बीजो निरालम्बनः । अथवा बीजं क्लेशकर्माशयस्ते निष्क्रान्ता यस्मात् स तथा
योο सूο १.१८ पर तο वैο, पृο २०

२. तद्द्वयं वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रादमात्रम् । ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतस्येव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ।
योο सूο १.१६ पर व्याο भाο पृο १८-१९

३. धर्ममेघभेद एव परं वैराग्यं नान्यत् ।
योο सूο १.१६ पर तο वैο पृο १९

४. अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथायोगमेतेष्वेव स्वरूपतो नान्तरीकतयान्तर्भावयितव्याः । योο सूο १.२९ पर तο वैο, पृο ५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रशान्तवाहिता प्राप्त करने के लिए जो जो भी साधन अपेक्षित हैं, वे सभी अभ्यास के अन्तर्गत आते हैं। एतदर्थ यम, नियमादि आठों अंगों का अनुष्ठान करना भी अभ्यास ही है। एतदतिरिक्त परिकर्म के द्वारा भी चित्त एकाग्र होकर स्थिति को प्राप्त करता है। अतः परिकर्म के अन्तर्गत विहित साधनों का अनुष्ठान भी अभ्यास कहलाता है। परिकर्म के द्वारा परमाणु से लेकर महत् पर्यन्त वशीकार को प्राप्त करने के पश्चात् परिकर्म के अभ्यास की अपेक्षा नहीं रहती।[1]

जिस प्रकार अभ्यास का सम्बन्ध यम-नियम आदि योगांगों तथा परिकर्म से है उसी प्रकार ईश्वर प्रणिधान से भी अभ्यास का सम्बन्ध है। पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान के द्वारा व्याधि आदि विक्षेपों का निरोध करना कहा है।[2] ईश्वर प्रणिधान में भी अभ्यास अपेक्षित है।[3] इसीलिए व्यासभाष्य में अभ्यास वैराग्य के द्वारा भी विक्षेपों का निरोध करना लिखा है।[4] यदि अभ्यास वैराग्य को अलग ही उपाय मानें तो प्रश्न होगा कि क्या व्याधि आदि विक्षेपों को दूर करने के लिए एक स्थान पर अभ्यास वैराग्य तथा दूसरे स्थान पर ईश्वर प्रणिधान के रूप में पृथक्-पृथक् दो उपाय कहे गए हैं ? अभ्यास वैराग्य को अलग साधन न मानने पर समाधान हो जाता है कि ईश्वर प्रणिधान का अभ्यास करने पर उक्त विक्षेप नहीं होंगे।

इसके अतिरिक्त व्यास जी के अनुसार व्याधि आदि चित्तविक्षेप, प्रमाण-विपर्यय आदि चित्त वृत्तियों के साथ में ही होते हैं। इन विक्षेपों के अभाव में चित्त वृत्तियां भी नहीं होती हैं।[5] यहां पर प्रश्न है कि चित्त विक्षेप तो ईश्वर प्रणिधान से ही दूर हो जायेंगे। विक्षेपों के अभाव में प्रमाण आदि चित्त

---

१. तद्वशीकारात् परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षते।
व्या० भा० पृ० ३८

२. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्चः। यो० सू० १.२९

३. यद्यपीश्वरप्रणिधानादित्यभ्यासमात्रमुक्तं तथापि वैराग्यमिह तत्सहकारितया ग्राह्यम्। यो० सू० १.३२ पर त० वै०, पृ० ३२

४. अथेते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोधव्याः।
यो० सू० १.३१ पर व्या० भा० पृ० ३२

५. नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षपाः सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। यो० सू० १.३० पर व्या० भा० पृ० ३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्तियां भी नहीं होंगी। अतः इन चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास वैराग्य का विधान करने की क्या आवश्यकता रह जाती है। अतः यही मानना उचित है कि अभ्यास तथा वैराग्य का विधान सामान्यतः सबके लिए किया गया है। ईश्वर-प्रणिधान के अभ्यास से विक्षेप निरोध पूर्वक चित्त वृत्तियों का निरोध सम्पन्न होता है।

अतः यह मानना उचित नहीं है कि अभ्यास वैराग्य का विधान उत्तम साधकों के लिए किया गया है तथा अन्य साधनों का विधान अधिकारी भेद से अन्य साधकों के लिए। उत्तम कोटि के अधिकारियों के लिए भी यम-नियम आदि सभी योगांग आवश्यक है। पूर्व संस्कार वश इनका चित्त हिंसा, असत्य आदि में प्रवृत्त ही नहीं होता। अतः अहिंसा आदि की सिद्धि के लिए इनको विशेष यत्न नहीं करना पड़ेगा। तप का विधान अशुद्धि क्षय करने के लिए किया गया है। प्राणायाम से भी प्रकाशावरण नष्ट होता है। इसी प्रकार शौच से स्वाङ्गजुगुप्सा, दूसरों के साथ असंसर्ग तथा आतमदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। जिन साधकों को यह स्थिति पूर्व संस्कार वश स्वतः प्राप्त हो उनको इनके लिए अलग से अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे साधक यम-नियम आदि की सिद्धि के बिना ही अगली साधना अथवा आत्म साक्षात्कार में समर्थ हो सकेंगे।

यदि डॉ० अवस्थी तथा अन्य के अनुसार मूढ कोटि के व्यक्तियों के लिए अष्टांग योग तथा उत्तम कोटि के अभ्यासियों के लिए ही अभ्यास वैराग्य का विधान किया गया है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उतम कोटि के अधिकारी किसका अभ्यास करेंगे ? तथा क्या अष्टांग योग का अभ्यास करने वालों को वैराग्य की आवश्यकता नहीं है ? क्या बिना वैराग्य उनका चित्त दृष्टानुश्रविक विषयों में आसक्त नहीं रहेगा ? अभ्यास वैराग्य को अष्टांगयोग में ही समाहित करने पर समाधान मिल जाता है कि अष्टांग योगी यम-नियम आदि आठों योगांगों का अभ्यास करेगा तथा उसे भी वैराग्य सम्पन्न होना चाहिए। उसके इस वैराग्य की सिद्धि के लिए ही योग के पंचम अंग प्रत्याहार का विधान पतंजलि में किया है। वैराग्य युक्त, तृष्णा रहित व्यक्ति ही प्रत्याहार की स्थिति में होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम अध्याय

क्रियायोग

पतंजलि ने तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान के रूप में क्रियायोग का विधान किया है।[1] इसके अतिरिक्त इन तीनों का उल्लेख नियमों के अन्तर्गत भी किया गया है।[2] प्रश्न है कि क्या ये उपाय पृथक्-पृथक् हैं यदि पृथक् हैं तो किन-किन अधिकारियों के लिए इनका विधान किया गया है। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि स्वयं पतंजलि ने यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया कि उक्त साधन किस-किस प्रकार के साधकों के लिए हैं। व्याख्या एवं टीकाकारों ने स्व विवेक के अनुसार साधकों के कई भेद करते हुए पृथक्-पृथक् साधकों के लिए इनका विधान माना है। किन्तु इस विषय में ये भी एक मत नहीं हैं। क्रियायोग की उत्थानिका में व्यास जी ने लिखा है 'उदिष्टः समाहितचित्तस्य योग; कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येत-दारभ्यते' इसी के आधार पर वाचस्पति तथा विज्ञान भिक्षु ने भी व्युत्थित चित्त का उल्लेख तो किया है किन्तु स्पष्टतः यह नहीं कहा कि ये उपाय केवल इनके लिए ही विहित है, अन्य के लिए नहीं। विज्ञानभिक्षु ने क्रिया योग को मध्यम अधिकारी के लिए माना है।[3] भोज ने व्यास द्वारा प्रयुक्त व्युत्थित' पद का अर्थ क्षिप्त तथा मूढभूमि किया है।[4] इसी आधार पर डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने क्रियायोग का विधान क्षिप्तचित्त के लिए माना है।[5] तथा ईश्वर प्रणिधान को मन्द, मध्यम, उत्तम सभी प्रकार के अधिकारियों एवं क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त तथा एकाग्र आदि सभी भूमियों में स्वीकार किया है।[6]

---

१. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः — यो० सू० २.१

२. शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानि नियमाः — यो. सू. २.३२

३. अथ मध्यमाधिकारिणो युञ्जानस्य वानप्रस्थादेः प्रकृष्टक्रियायोगरूपं योगसाधनं निरुप्यते—यो० सा. सं. पृ. ३०

४. तत्र क्षिप्तमूढे चित्तभूमी व्युत्थानम् — भोजवृत्ति १.१८

५. पातंजल योग शास्त्र एक अध्ययन, पृ० १५१

६. वही, पृ० १५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि योगदर्शन पर दृष्टिपात करे तो स्पष्टतः प्रतीत होता है कि क्रिया योग एवं अष्टांग योग पृथक्-पृथक् उपाय न होकर एक ही हैं। इसलिए इनमें किसी प्रकार के अधिकारी भेद का प्रश्न नहीं है। पतञ्जलि ने स्वयं क्रियायोग तथा अष्टांगयोग के फल का उल्लेख किया है। उनके अनुसार क्रियायोग अविद्या आदि क्लेशों के तनूकरणार्थ तथा समाधि के सम्पादनार्थ हैं।[1] जबकि अष्टांग योग से अशुद्धि का क्षय होकर ज्ञानदीप्ति होती है जिससे कि विवेक ख्याति=सत्वपुरुष अन्यथा ख्याति प्राप्त होती है।[2] इस विवेक ख्याति से ही हान अर्थात् प्रधान तथा पुरुष के संयोग की निवृत्ति होती है।[3] इस प्रकार योगांगों के सम्मिलित फल का उल्लेख करने के पश्चात् पतंजलि ने अष्टांग योग के प्रत्येक अंग=यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार के फलों का भी स्वयं उल्लेख किया है। इतना ही नहीं उन्होंने यम, नियमों के प्रत्येक अंग के फलों का भी उल्लेख सूत्रों में ही कर दिया है। पतंजलि द्वारा विहित इन फलों को देखकर भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि इस सबका एक ही लक्ष्य है—असम्प्रज्ञात समाधि। किन्तु इस समाधि की प्राप्ति से पूर्व अविद्या आदि पंच क्लेश तथा रजस् तमस् रूपी अशुद्धि को नष्ट करना आवश्यक है। यह समस्त विधि-विधान इसी लक्ष्य के सम्पादनार्थ है। ऊपर संकेतित, क्रियायोग तथा अष्टांग योग के फलों में विभिन्नता न होकर क्रमबद्धता है। इसकी स्पष्टतः के लिए हमें अष्टांग योग के प्रत्येक फल पर विचार करना होगा।

योगांगों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ये तीनों यम क्रमशः हिंसा, असत्य तथा स्तेय वृत्ति को दूर करने के लिए हैं। इनके सेवन से क्रमशः योगी के समीप प्राणियों का वैर त्याग,[4] क्रियाफलाश्रयत्व[5] तथा सर्वद्रव्यों का उपस्थान[6] प्राप्त होता है। इस दिशा में कोई संकेत नहीं है कि ये तीनों यम समाधि की सिद्धि में भी सहायक हैं या नहीं। स्पष्ट है कि ये तीनों अंग

---

१. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। यो० सू० २.२

२. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। यो० सू० २.२८

३. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। यो. सू. २.२६

४. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। यो. सू. २.३५

५. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। वही, ३.३६

६. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। वही, २.३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधि की सिद्धि में परम्परा से तो सहायक हैं किन्तु इनका उद्देश्य समाधि सिद्धि न होकर यही है, जो कि ऊपर कहा गया है। ब्रह्मचर्य का फल वीर्य लाभ[1] तथा अपरिग्रह का फल जन्मकथान्तसंबोध[2] कहा गया है। इस प्रकार ये दोनों अंग भी समाधि सिद्धि में आवश्यक होते हुए भी प्रत्यक्षतः सहायक नहीं है।

नियमों में सन्तोष से होने वाली अनुत्तम सुखप्राप्ति वैसी ही है जैसा कि ब्रह्मचर्य से होने वाला वीर्यलाभ। शेष शौच, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान विशेष महत्त्व के हैं। इनसे होने वाले फल समाधि की सिद्धि में प्रत्यक्षतः सहायक हैं। इनमें भी एक क्रम निहित है। शौच, बाह्य तथा आन्तरिक रूप में दो प्रकार का माना गया है। बाह्य शौच मिट्टी, जल आदि के द्वारा निष्पन्न होता है। जिसका फल अपने शरीर के प्रति घृणा (जुगुप्सा) तथा दूसरे व्यक्तियों से असंसर्ग की भावना उदित होती है,[3] बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक शौच महत्त्वपूर्ण है। इसका फल भी विस्तार से इस प्रकार है—सत्त्व शुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन की योग्यता।[4] ये लाभ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा स्वयं पतंजलि ने इनका उल्लेख किया है। ध्यान से देखें तो ये फल उस प्रकार की सिद्धि जैसे नहीं है जो कि अहिंसा, सत्य तथा अस्तेय के द्वारा प्राप्त होती है। वस्तुतः ये इन तीनो यमों के लाभ सिद्धि के रूप में साधक को प्राप्त होते हैं। इसीलिए व्यास जी ने लिखा है—एता यमस्थैर्ये सिद्धयः।[5] सत्य की प्रतिष्ठा होकर वाणी का अमोघ हो जाना वस्तुतः बहुत बड़ी सिद्धि है। ऐसी स्थिति में योगी किसी को शाप अथवा वर भी प्रदान कर सकता है किन्तु इस सिद्धि का समाधि की सिद्धि में कोई उपयोग नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि योगी को सत्य की साधना नहीं करनी चाहिए। वह तो अवश्य करनी होगी अन्यथा असत्य वाणी से तो प्राणियों का अनुपकार ही होगा, उपकार नहीं। सत्य की साधना करते हुए

---

१. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। वही. २.३८

२. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तसम्बोधः। वही. २.२

३. शौचात्स्वांगजुगुप्सापरैरसंसर्गः। वही. २.४०

४. सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। वही. ३.४१

५. यो० सू० २.३६ पर व्या. भा., पृ. ६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी, इससे प्राप्त सिद्धि (वाणी की अमोघता) योगी के लिए निष्प्रयोजन है। इसी प्रकार अहिंसा तथा अस्तेय के विषय में भी समझना चाहिए।

आन्तरिक शौच के जिन लाभों का वर्णन पतंजलि ने किया है वे इस प्रकार की सिद्धि जैसी कोई चीज नहीं हैं अपितु उनमें योगी की आन्तरिक उन्नति का क्रमबद्ध वर्णन है अन्त: शौच से सर्वप्रथम सत्त्व शुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् चित्तमलों का क्षालन होने से चित्त शुद्ध हो जाता है। उसके बाद सौमनस्य अर्थात् मन की प्रसन्नता प्राप्त होती है। इससे मन एकाग्र होता है। एकाग्रता से इन्द्रियजय तथा इसके बाद आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। इस प्रकार हमने देखा कि अन्त: शौच के द्वारा चित्तमलों का क्षालन होकर क्रमश: आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त हो जाती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि योग का यही लक्ष्य है। यह लाभ अब तक गिनाए गये किसी भी यम-नियम से प्राप्त नहीं है। यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि अन्त: शौच से आत्मदर्शन की योग्यता मात्र प्राप्त होती है, आत्मदर्शन नहीं होता। इसके लिए तो अलग से इसके पश्चात् यत्न करना पड़ता है। अब तृतीय नियम तप के बारे में विचार करते हैं—

तप के द्वारा अशुद्धि क्षय होकर शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।[1] शरीर की सिद्धि का अभिप्राय: अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व, सत्य, सङ्कल्पता आदि सिद्धियों से है। इनका संकेत स्वयं पतंजलि ने तृतीय पाद में दिया है।[2] इन्द्रियसिद्धि का अभिप्राय दूर से सुनना-देखना आदि है। ये दोनों प्रकार की सिद्धियाँ समाधि में किसी भी प्रकार सहायक नहीं हैं अत: योगी के लिए व्यर्थ है, तथापि तप के द्वारा स्वत: प्राप्त हो जाती है। तप के लाभों में मुख्य हैं—अशुद्धिक्षय। उक्त सिद्धियाँ भी अशुद्धिक्षय के पश्चात् ही प्राप्त होती हैं इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि तप का फल है—अशुद्धिक्षय तथा अशुद्धिक्षय का फल हैं—उक्त दोनो प्रकार की सिद्धियां। अन्त: शौच का फल भी सत्त्व शुद्धि कहा गया है था। उसके बाद ही सौमनस्य, एकाग्रता आदि की प्राप्ति कही गयी थी। इस प्रकार अन्त: शौच तथा तप इन दोनों का प्रमुख फल रजस् तमस् आदि अशुद्धि का क्षय है। इसके बाद ही अन्य लाभ प्राप्त होते हैं। योगी के लिए

१. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस: । यो. सू. २.४३

२. ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव: । वही, ३.४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्त की इस अशुद्धि को दूर करना अत्याश्वयक है। इस अशुद्धि को दूर करने का एकमात्र उपाय तप है। व्यास जी कहते हैं कि यह अशुद्धि इसी जन्म की नहीं है अपितु अनादि कर्म तथा क्लेशों की वासना से चित्र-विचित्र विषय रूपी जाल वाली है। अतः यह अशुद्धि तप के बिना कम नहीं हो सकती। इतना ही नहीं अपितु तप पर वल देते हुए व्यास जी व्यतिरेक मुख से कहते हैं कि अतपस्वी व्यक्ति का योग सिद्ध हीं नहीं हो सकता।[१] इस प्रकार रजस् तमस् तथा अधर्म आदि की अशुद्धि के लिए तप अपरिहार्य है। तप के इसी महत्त्व के कारण गीता में तप के शारीरिक वाचिक तथा मानसिक तीन भेद करके इन तीनों के पुनः सात्त्विक राजस तथा तामस रूप में तीन-तीन भेद किये हैं। गीता के अनुसार देव, द्विज, गुरु तथा विद्वानों का सत्कार करना, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा यह शारीरिक तप है।[२] किसी को भी कष्ट न देने वाली सत्य, प्रिय तथा हितकर वाणी का प्रयोग करना, तथा स्वाध्याय यह वाचिक तप कहलाता है।[3] मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, आत्मसंयम तथा भावों की शुद्धि यह मानस तप कहलाता है।[४] फल की कामना छोड़कर परम श्रद्धापूर्वक किया गया तप सात्त्विक कहलाता है।[५] आदर सत्कार प्राप्त करने की भावना से किया गया दम्भ मुक्त तप राजस कहलाता है तथा दुराग्रह पूर्वक अपने आप को अथवा अन्य प्राणियों को कष्ट देकर जो तप किया जाता है, वह राजस कहलाता है।[६] गीता में तप का क्षेत्र अन्यत्र विस्तृत कर दिया गया है। योग दर्शन के यम-नियमों का समावेश भी तप में ही कर दिया गया। ऐसा इसलिए है कि सभी यम-नियमों का उद्देश्य अशुद्धि का नाश ही है। इनमें भी तप ही अशुद्धिक्षय के करने में प्रबलतम है। अतः एक गीताकार ने योग

---

१. नातपस्विनो योगः सिद्धयति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थित-विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्येत।

योो सूो २.१ पर व्या. भा. पृ० ५१

२. भगवद् गीता १७।१४

३. वही १७।१५

४. वही १७।१६

५. वही १७।१७

६. वही १७।१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन में प्रतिपादित यम-नियमों को भी उद्देश्य की दृष्टि से तप में समाविष्ट कर लिया। योगांगों में चतुर्थ नियम स्वाध्याय है। तप के द्वारा अशुद्धि क्षय होने के पश्चात् चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। इसके लिए पतंजलि ने स्वाध्याय का विधान किया है।

क्रियायोग तथा अष्टाङ्गयोग दोनों स्थानों में चर्चित स्वाध्याय का अर्थ व्यास जी ने प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप तथा मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन करना कहा हैं।[1] इसका फल बतलाते हुए व्यास जी कहते हैं कि प्रणव का जप करते हुए तथा प्रणवाभिधेय ईश्वर की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है।[2] पतंजलि के अनुसार स्वाध्याय से इष्ट देवता का सम्प्रयोग होता है।[3] पतंजलि द्वारा कहा गया स्वाध्याय का यह फल भी एक प्रकार से सिद्धि की भांति ही है। इसमें इतना विशेष है कि इस सूत्र के अनुसार ऋषि, देवता स्वाध्यायशील व्यक्ति के कार्य में सहयोगी होते हैं। इस प्रकार स्वाध्याय से एकाग्रता की ओर बढ़ते हुए क्रमशः समाधि की ओर चलते हैं। तथा उसका साधन है—ईश्वरप्रणिधान।

ईश्वरप्रणिधान

योगदर्शन के द्वितीय पाद में पतंजलि ने ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख क्रिया-योग (२.१) एवं अष्टांग योग (२.३२) के अन्तर्गत किया है। इन दोनों स्थानों अथवा इनसे अतिरिक्त कहीं पर भी पतञ्जलि ने ईश्वर प्रणिधान की परिभाषा नहीं दी है। द्वितीय पाद में ही पतंजलि ईश्वर प्रणिधान का फल[4] बतलाते हुए कहते हैं कि ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। यहाँ पर व्यास जी ने ईश्वर प्रणिधान का अर्थ ईश्वरार्पित सर्वभाव किया है। इसी प्रकार २.१ तथा २.३२ सूत्रों की व्याख्या में भी स्पष्ट रूप से उन्होंने ईश्वर प्रणिधान का अर्थ परमगुरु परमात्मा में सभी कर्मों का समर्पण करना अथवा कर्मफल का

---

१. स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा—
यो० सू० २.१ पर व्या. भा. पृ. ५२

२. प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते—
यो० सू० १.२८ पर व्या. भा, पृ ३०

३. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः—यो. सू. २.४४

४. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्—यो. सू. २.४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्याग कहा है।[१] इसके अतिरिक्त प्रथम पाद में वर्णित ईश्वरप्रणिधान का अर्थ व्यासजी भक्ति विशेष करते हैं।[२] ईश्वर प्रणिधान की व्यास कृत इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर ही कदाचित् विज्ञान भिक्षु ने प्रथम पाद में वर्णित इस ईश्वर प्रणिधान को द्वितीय पाद में वर्णित ईश्वर प्रणिधान से पृथक् माना है। उनके अनुसार प्रथम पादोक्त ईश्वरप्रणिधान भावना रूप है अतः यह अन्तरङ्ग है जबकि द्वितीय पादोक्त ईश्वरप्रणिधान का मुख्य ध्येय ईश्वर न होकर कर्मों का अर्पण है। अतः वह बहिरंग है।[३] विज्ञान भिक्षु ने ऐसा सम्भवतः व्यास भाष्य के आधार पर लिखा है क्योंकि व्यासजी ने ही प्रथम पाद में ईश्वर प्रणिधान का अर्थ भक्ति विशेष तथा अन्य स्थानों पर परमात्मा में सभी कर्मों का अर्पण माना है। वस्तुतः पतंजलि ने ऐसा कोई विभेद नहीं किया है। उनके अनुसार तो प्रथम तथा द्वितीय पादोक्त ईश्वर प्राणिधान पृथक्-पृथक् न होकर एक ही प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने प्रथमपाद[४] क्रियायोग[५] तथा अष्टांग योग[६] के अन्तर्गत सभी स्थानों पर विहित ईश्वर प्रणिधान का फल समाधि की सिद्धि कहा है। यदि विभिन्न स्थानों पर चर्चित ईश्वर प्रणिधान का फल एक ही है तो विज्ञानभिक्षु के अनुसार दोनों प्रणिधानों को पृथक्-पृथक् कैसे माना जा सकता है।[७] यह तो ठीक है कि प्रथमपाद में स्वयं पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान की व्याख्या 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो० सू० १.२८) के रूप

---

१. ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।
यो० सू० २.१ पर व्या० भा०
ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।
यो० सू० २.३२ पर व्या० भा०

२. ईश्वरप्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति।
यो० सू० १.२३ पर व्या० भा०

३. यो० वा० पृ० २४६

४. ईश्वर प्रणिधानाद्वा। यो० सू० १.२३ व्या० भा०-आसन्नतरः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति।

५. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। यो० सू० २.२

६. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। यो० सू० २.४५

७. प्रथमपादोक्तप्रणिधानादतिरिक्तमत्र प्रणिधानमाह सर्वक्रियाणामिति।
यो० वा०, पृ० १३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में करके इसे जप रूप माना है जबकि क्रियायोग एवं अष्टांगयोग में वर्णित ईश्वर प्रणिधान में जप रूपता नहीं है। इतना होने पर भी फल की दृष्टि से भेद नहीं है अतः इनको अन्तरंग बहिरंग नहीं माना जा सकता।

यहां पर यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि यदि पतंजलि के अनुसार क्रियायोग से ही समाधि की सिद्धि हो जाती है तो अन्य योगांगों की क्या आवश्यकता है ? तथा तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानात्मक क्रियायोग में भी जब अकेले ईश्वर प्रणिधान से ही समाधि सिद्ध हो सकती है तो तप एवं स्वाध्याय इन दोनों अंगों की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर स्वयं योगदर्शन से ही मिल जाता है कि पतंजलि ने प्रथमपाद में एकमात्र ईश्वर प्रणिधान ही समाधि की सिद्धि में कारण नहीं माना अपितु उनका अभिप्राय केवल इतना ही है कि ईश्वर प्रणिधान के द्वारा समाधि लाभ शीघ्र हो जाता है। किन्तु वह समाधि लाभ होगा उन्हीं उपायों के द्वारा जिनको पतंजलि ने इससे पूर्व अभ्यास वैराग्य तथा द्वितीयपाद में अष्टांगयोग कहा है। इसी प्रसंग में व्यासजी ने योगियों के ९ भेदों का उल्लेख किया है। इनमें से तीव्र संवेग वाले तथा अधिमात्र उपाय वाले योगी को समाधि लाभ शीघ्र होता है। इसलिए ईश्वर प्रणिधान को भी इस प्रसंग में इसी प्रकार समझना चाहिए कि जिस प्रकार तीव्र संवेगी को समाधि लाभ शीघ्र होता है उसी प्रकार ईश्वर प्रणिधानी को भी शीघ्र होता है। वह होगा तभी जबकि इसके लिए अन्य विहित उपाय अपनाये जायेंगे। यथा एक ही प्रकार के कई रोगी यदि औषध पान करें तो सबसे पहले वह रोगी स्वस्थ होगा जो औषधपान के साथ पथ्य भी करता होगा। इसी प्रकार तीव्र संवेगी तथा ईश्वर प्रणिधानी को भी समाधि लाभ शीघ्र तो हो जायेगा किन्तु क्रमशः अष्टांग योग के अभ्यास द्वारा ही होगा। वाचस्पति मिश्र ने भी इस शंका का समाधान इसी रूप में किया है।[1]

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी अकेले ईश्वर प्रणिधान को समाधि सिद्धि का साधन मानते हैं उनके अनुसार ईश्वर प्रणिधान में अधिकार का प्रश्न नहीं है। इसके द्वारा क्षिप्त, मूढ आदि सभी भूमियों के अधिकारी शीघ्रतम समाधिलाभ कर

---

१. न च वाच्यमीश्वरप्रणिधानादेव चेत्संप्रज्ञातस्य समाधेरङ्गिनः सिद्धिः कृतं सप्ताभिरङ्गैरिति। ईश्वरप्रणिधानसिद्धौ दृष्टादृष्टावान्तरव्यापारेण तेषामुपयोगात्। त० वै० पृ० ९८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं। यह सबके लिए सुगम राजपथ है।[1] यहां पर प्रश्न है कि यदि ईश्वर प्रणिधान का इतना ही अधिक महत्त्व है तो अकेले इसी के बल पर समाधि सिद्ध हो जायेगी। पतंजलि को अन्य योगांगों का उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी। दूसरे इतने महत्त्वपूर्ण साधन को पतंजलि ने नियमों के अन्तर्गत क्यों मान लिया? अतः यही मानना उचित है कि अन्य योगांगों के अनुष्ठानपूर्वक ही ईश्वर प्रणिधान समाधि के शीघ्र लाभ में सहायक बनता है न कि केवल इसके बल पर ही समाधि सिद्ध हो जायेगी।

इसी प्रसंग में डा० अवस्थी यह भी लिखते हैं कि असम्प्रज्ञात समाधि के हेतु रूप श्रद्धा, वीर्य, स्मृति आदि भी ईश्वर प्रणिधान या भक्तिविशेष का ही पूर्वरूप सिद्ध होते हैं।[2] यहाँ पर भी यह अवधेय है कि मुमुक्षु योगियों को श्रद्धा वीर्य, स्मृति (सम्प्रज्ञात) समाधि तथा (ऋतम्भरा) प्रज्ञा के क्रम से ही समाधि प्राप्त होती है। तीव्रसंवेग तथा ईश्वर प्रणिधान को तो केवल समाधि में शीघ्र लाभ कारक माना गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि तीव्रसंवेगी अथवा ईश्वर प्रणिधानी को श्रद्धा आदि की आवश्यकता ही नहीं है। श्रद्धा-वीर्य आदि रहने पर ही तीव्र संवेगी तथा ईश्वर प्रणिधानी को अन्यों की अपेक्षा समाधि लाभ शीघ्र हो जायेगा।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अकेले ईश्वर प्रणिधान से अथवा तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान नामक क्रियायोग के आधार पर समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती। समाधि तो अष्टांगयोग क्रम से ही प्राप्त होगी। अन्तर केवल इतना है कि दूसरे साधकों की अपेक्षा ईश्वर प्रणिधानी को वह शीघ्र प्राप्त हो जाएगी। तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान तीनों अष्टांग योग के ही एक अंग, नियमों के अन्तर्गत हैं। ये तीनों समाधि की सिद्धि में सीधे सहायक बनते हैं जबकि अन्य यम-नियम उस रूप में सीधे सहायक नहीं है। अतः मुख्य होने के कारण इन तीनों का पृथक् निर्देश कर दिया किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि क्रिया योगी को अष्टांगयोग करने की आवश्यकता ही नहीं।

यम-नियम तो सामान्य रूप में सभी के लिए आवश्यक है। मूल उद्देश्य है—समाधि की सिद्धि। इसके लिए सर्वप्रथम चित्तशुद्धि आवश्यक है। योगांगों

---

१. पातं० योग० एक अध्ययन, पृ० १५२

२. वही,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुष्ठान से ही अशुद्धि का क्षय होकर ज्ञान का प्रकाश होता है।[1] इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय से तो हिंसा, असत्य, चोरी आदि दुष्कर्मों की निवृत्ति होगी। जन्म जन्मान्तर से चली आ रही चित्त की अशुद्धि इनसे दूर नहीं होगी। उसका साधन तो एकमात्र तप है। इस अशुद्धि क्षय के लिए तप अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए व्यासजी ने लिखा कि तप के बिना योग सिद्ध ही नहीं हो सकता।[2] योगांगों में आसन (स्थिरता एवं सुख पूर्वक बैठना) सभी के लिए अनिवार्य है ही। प्राणायाम भी प्रकाशावरण का नाशक एवं धारणाओं में मन की योग्यता का निष्पादक होने के कारण अत्यन्त आवश्यक है।[3] प्रत्याहार का उद्देश्य इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर चित्त के स्वरूपाकार करना है। अतः साधक के लिए यह भी आवश्यक है क्योंकि जब तक इन्द्रियां अपने विषयों में फंसी रहेंगी तब तक उनकी वासना होने के कारण क्रियायोग अथवा ईश्वर प्रणिधान किसी भी साधन के द्वारा समाधि सिद्ध नहीं हो सकती। इसके बाद धारणा, ध्यान, तथा समाधि में तीनों अन्तरंग अंग है। जो उद्देश्य इनका है लगभग वही उद्देश्य स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान का है। स्वाध्याय का अर्थ मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन अथवा प्रणव जप है।[4] प्रणव का जप करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है।[5] धारणा तथा ध्यान भी एकाग्रता के जनक है अथवा एकाग्र चित्त होने पर ही धारणा ध्यान हो सकते हैं अन्यथा नहीं। यम-नियमों में अहिंसा आदि कुछ तो इन्द्रियों के हिंसा आदि दोषों को दूर करने वाले हैं। शौच तथा तप आदि चित्त की अशुद्धि को दूर करने वाले हैं तथा स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान एकाग्रता के जनक हैं। इस प्रकार

---

१. योगांगानुष्टानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। यो सू० २।२८

२. नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति। यो० सू० २।१ पर व्या० भा० पृ०

३. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। धारणासु च योग्यता मनसः।
यो० सू० २.५२-५३

४. (क) स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।
यो० सू० २.१ पर व्या० भा० पृ० १३९

(ख) स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा।
यो० सू० २.३२ पर व्या० भा० पृ० २३४

५. तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते।
यो० सू० १.२८, पर व्या० भा० पृ० ३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियायोग तथा अष्टांगयोग में कोई अन्तर नहीं रह जाता। फल की दृष्टि से अन्तर न होने के कारण साधकों की दृष्टि से भी इनमें भेद नहीं है। सभी साधकों के लिए ही अष्टांगयोग आवश्यक है, न कि केवल अधम साधकों के लिए, जैसाकि विज्ञान भिक्षु आदि टीकाकारों ने माना है। यह अलग बात है कि जिन साधकों की प्रवृत्ति असत्य, हिंसा, स्तेय में नहीं होगी उनको इनके निवारणार्थ यत्न विशेष नहीं करना पड़ेगा। इनको ये स्वतः सिद्ध हैं ही। अन्य साधकों को इनके लिए भी यत्न करना होगा। इनकी अनिवार्यता से कोई भी मुक्त नहीं हैं।

क्रियायोग के अभ्यास से अविद्यादि क्लेश क्षीण होते हैं बिल्कुल समाप्त नहीं। इनका सर्वथा नाश तो विवेकाग्नि के द्वारा ही होता है। अभ्यास के शिथिल पड़ जाने से सूक्ष्म क्लेश पुनः बलवान् हो जाते हैं क्योंकि इनमें अभी अंकुरण की सामर्थ्य रहती है। प्रसंख्यान अग्नि के द्वारा ही दग्धबीज भाव होने पर क्लेशों की अंकुरण अथवा आविर्भाव की सामर्थ्य समाप्त होती है। प्रश्न है कि यदि क्रियायोग क्लेशों का सर्वथा क्षय नहीं कर सकता तो यह समाधि की सिद्धि में किस प्रकार सहायक होता है, जिसके लिए पतंजलि ने 'समाधि भावनार्थः' कहा है। इसका उत्तर यह है कि विवेकख्याति का तब तक उदय नहीं हो सकता जब तक कि क्लेशों का बन्धन शिथिल न हो जाए।[1] यह बन्धन शैथिल्य क्लेशों के तनूकरण से ही सम्भव है। अतः क्लेशों को सूक्ष्म करके क्रियायोग विवेकख्याति के उदय में सहायक बनकर परम्परा से समाधि की सिद्धि में भी सहायक बनता है।[2] स्वयं पतंजलि ने योगांगों का लाभ बताते हुए इसको इस रूप में स्पष्ट किया है कि योगांगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होने पर ही ज्ञान का प्रकाश होता है यह ज्ञानप्रकाश तब तक होता है जब तक कि विवेकख्याति का उदय नहीं हो जाता। विवेकख्याति उदित होकर तनुकृत् क्लेशों के अंकुरण सामर्थ्य को सर्वथा समाप्त कर देती है।

एक प्रश्न यह भी है कि यदि तप के द्वारा अशुद्धि का क्षय होने के कारण तप को क्रियायोग में स्थान दिया गया है तो शौच नामक नियम को इसमें

---

१. क्लेशानामतानवे हि बलवद्विरोधिग्रस्ता सत्वपुरुषान्यथाख्यातिरुदेतुमेव-नोत्सहते। यो० सू० २.२ पर त० वै० पृ० ५२

२. एते तपः प्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीञ्छिथिलीकुर्वन्तः समाधे-रुपकारतां भजन्ते। इसी पर भो० वृ० पृ० ५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मिलित क्यों नहीं किया, क्योंकि शौच का अर्थ बाह्य एवं आभ्यन्तर शुद्धि है। आभ्यन्तर शुद्धि चित्त मलों के नष्ट होने से ही सम्भव है। इसका उत्तर है कि शौच नामक नियम स्वयं शुद्धि स्वरूप है, यह शुद्धि का साधन नहीं है। इसीलिए व्यासजी ने शौच की परिभाषा में लिखा है—चित्तमलानामाक्षालनम्। वह शुद्धि अथवा चित्तमलों का क्षालन किस प्रकार से सम्पन्न होगा, इसके लिए ही तप का विधान किया गया है। अतः अशुद्धि का नाशक होने के कारण तप की गणना ही क्रियायोग में की गयी है। एक अन्य प्रश्न यह है कि प्राणायाम से भी प्रकाशावरण नष्ट होता है।[1] अतः प्राणायाम की गणना क्रियायोग में क्यों नहीं की गयी जबकि यह भी तप के समान ही अशुद्धि क्षय में सहायक है। प्रकाशावरण का अर्थ व्यासजी ने विवेकज्ञान को ढकने वाला कर्म किया है। वाचस्पति मिश्र ने इस कर्म की व्याख्या 'क्लेशः पाप्मा च' कहकर की है।[2] इतना ही नहीं, क्लेशक्षय के साथ-साथ प्राणायाम से धारणा के के लिए भी मन में योग्यता प्राप्त होती है।[3] इस प्रकार जो कार्य तप तथा स्वाध्याय का है, प्राणायाम से भी वह सिद्ध होता है। वाचस्पति मिश्र ने इसका उत्तर देने का प्रयास किया है कि प्राणायाम से क्लेश केवल दुर्बल होते हैं, बिल्कुल समाप्त नहीं होते जबकि तप से उनका सर्वथा क्षय हो जाता है।[4] यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि तप से भी क्लेशों का समूल नाश नहीं होता अपितु तनुत्व ही प्राप्त होता है।

---

१. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। यो० सू० २.५२

२. कर्मशब्देन तज्जन्यमपुण्यं तत्कारणं क्लेशं च लक्षयति।
इसी पर त० वै० पृ० ५२

३. धारणासु च योग्यता मनसः। यो० सू० २.५३

४. दुर्बलं भवतीति न तु सर्वथा क्षीयते। अतस्तत्प्रक्षयाय तपोऽपेक्ष्यते।
यो० सू० १.५२ पर त० वै०, पृ० १०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार

शास्त्र तथा लोक दोनों में योग शब्द अति प्राचीन काल से प्रयुक्त रहा है किन्तु इसको सूत्र शैली में सर्वप्रथम पतंजलि ने ही निबद्ध किया है। पतंजलि से पूर्व योग विषयक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ यद्यपि उपलब्ध नहीं है तथापि वेद तथा दर्शन आदि ग्रन्थों में योग के पर्याप्त संकेत उपलब्ध होते हैं। यह भी सुनिश्चित ही है कि पतंजलि से पूर्व भी योग के उपदेष्टा हो चुके थे इस विषय में स्वयं योगसूत्र ही प्रमाण हैं कि पतंजलि ने पंच शिखाचार्य के मत को उद्धृत करके अपने पक्ष को पुष्ट किया है। योग सूत्रों पर इस समय व्यास भाष्य ही प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान भिक्षु का योग वार्तिक तथा वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी, ये दोनों ग्रन्थ भी योग सूत्रों एवं उनके भाष्य को समझने में परम उपयोगी है। योग सूत्रों एवं व्यास भाष्य की अभ्यासगत, वारीकियों से अपरिचित होने के कारण ही कुछ विद्वानों ने इनके सम्बन्ध में कुछ आक्षेप किये हैं।

उपनिषदों में भी योग विषयक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वर उपनिषद् तो साक्षात् योग की ही प्रतिपादक हैं। इनमें न केवल योग शब्द ही प्रयुक्त हुआ है अपितु योग विषयक प्राणायाम एवं ध्यान आदि की प्रक्रिया का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उपनिषदों को भी दो भागों में विभक्त किया गया है। ईशादि प्रधान एकादश उपनिषद् तथा शेष अन्य उपनिषद्। दोनों ही प्रकार की उपनिषदों में योग विषयक सामग्री प्रचुर रूप में देखने को मिलती है। न केवल इतना ही अपितु इन उपनिषदों में पातंजल अष्टांग योग की प्रक्रिया स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है।

मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग आदि के रूप में योग के कई भेद हैं। इनमें से पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट योग ही राजयोग माना जाता है। इनके अतिरिक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्ययोग, कर्मयोग आदि के रूप में गीता आदि ग्रन्थों में भी योग के भेद उपलब्ध होते हैं किन्तु यह निश्चित है कि ये योग के स्वतंत्र भेद अथवा मार्ग नहीं हैं।

पतंजलि ने चित्तवृत्ति निरोध के लिए प्रमुख रूप में अभ्यास तथा वैराग्य को गिनाया है। इनके अतिरिक्त ईश्वर प्राणिधान तथा वीतराग विषयता आदि अन्य उपायों से भी चित्तवृत्ति-निरोध माना है। यहाँ पर यह संदेह स्वाभाविक ही है कि ये उपाय अभ्यास तथा वैराग्य से पृथक हैं अथवा इनका समावेश उनमें ही हो जाता है। योग दर्शन के अध्ययन से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि अभ्यास तथा वैराग्य अलग से कोई उपाय न होकर योगाभ्यासी के लिए सामान्य नियम है। इसका अभिप्राय यह है कि वैराग्य पूर्वक अन्य साधनों का अभ्यास करते हुए ही योग को प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से अभ्यास तथा वैराग्य ये दोनों योगाभ्यासी के लिए परम आवश्यक हैं। इनके रहने पर वीतराग विषयता आदि किसी भी साधन के द्वारा चित्त निरोध किया जा सकता है।

एक अन्य प्रश्न यह भी है कि पतंजलि ने योग के चार अंगों का उपदेश किया है इसके अतिरिक्त तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान के रूप में क्रिया योग का विधान भी किया है। क्रियायोग को भी पतंजलि समाधि के लिए ही मानते हैं। इसी आधार पर योगदर्शन के समालोचकों ने अधिकारी भेद से अष्टांग योग तथा क्रियायोग इन दोनों को पृथक्-पृथक् उपाय माना है। किन्तु योगदर्शन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि क्रियायोग के रूप में अष्टांग योग से अलग कोई अन्य उपाय न होकर यह अष्टांग योग के अन्तर्गत ही है। इन तीनों साधनों का विशेष महत्त्व होने के कारण पतंजलि ने इनकी पृथक् गणना की है। इनमें भी ईश्वर-प्राणिधान साक्षात् समाधि की सिद्धि में सहायक है जबकि तप से क्लेश क्षीण होते है। इसी प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता आदि के रूप में वर्णित परिकर्म भी पृथक् से कोई उपाय न होकर अष्टांग योग के अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार सार रूप में कहा जाता सकता है कि पतंजलि के अनुसार मूल रूप में अष्टांग योग ही विहित है। वैराग्य पूर्वक इन योगांगों का अभ्यास करते हुए तथा मैत्री, करुणा आदि के द्वारा चित्त को प्रसन्न रखते हुए ही समाधि तक पहुँचा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि लोक में परमात्मा तथा ईश्वर एक ही अर्थ में प्रचलित हैं किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से सम्भवतः सर्वप्रथम योग दर्शन में ही ईश्वर शब्द प्रयुक्त हुआ है। वेदों में स्थान-स्थान पर ब्रह्म नाम आया है, ईश्वर नहीं। पतंजलि ने ईश्वर को भी क्लेश आदि से रहित पुरुष विशेष माना है। योग सूत्रों में प्रतिपादित यह ईश्वर वेदान्त में शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादन ईश्वर से भिन्न है। योगदर्शन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा, परमात्मा का अंश नहीं है। यद्यपि उपनिषदों में भी बहुधा ब्रह्म की ही चर्चा की गयी है, ईश्वर की नहीं तथापि यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म का वही स्वरूप है जो कि योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर का है।

यद्यपि योग सूत्रों में ईश्वर प्राप्ति की बात नहीं कही गयी क्योंकि योग-दर्शन का लक्ष्य केवल समाधि है पुनरपि व्यास भाष्य में स्पष्ट रूप में कहा गया है—परमात्मा प्रकाशते। इससे इस बात में संदेह नहीं है कि योगमार्ग के द्वारा समाधि सिद्ध होने पर आत्म-दर्शन एवं परमात्म-दर्शन होता है। आत्मदर्शन के लिए तो योग सूत्रों में ही स्वरूपप्रतिष्ठा पद का प्रयोग किया गया है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर आत्मदर्शन की चर्चा की गयी है। वहां पर आत्मा के द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही अभिप्रेत हैं। इस प्रकार योगदर्शन तथा उपनिषदों का लक्ष्य समान ही प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, अपितु योगदर्शन तथा उपनिषदों में परमात्मदर्शन के उपाय भी लगभग समान ही हैं। जिन साधनों का पतंजलि ने अष्टांग योग के रूप में विभाग करके वर्णन किया है, उपनिषदों में भी उन्हीं साधनों का उल्लेख किया गया है। इतना अवश्य है कि उपनिषदों में इनका नाम कहीं-कहीं तो योगदर्शन के समान ही लिया गया है तथा कहीं-कहीं दूसरे नामों से उन साधनों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मदर्शन की प्रक्रिया भी योगदर्शन तथा उपनिषदों में समान ही है।

योग सूत्रों एवं उनके भाष्य एवं टीकाओं में कैवल्य प्राप्ति एवं उसके स्वरूप की चर्चा कई स्थानों पर विस्तार से की गयी है। उपनिषदों में इसके स्थान पर मुक्ति का वर्णन किया गया है। योगदर्शन तथा उपनिषदों में मुक्ति का स्वरूप आदि तथा कैवल्य प्राप्ति के साधनों में भी समानता ही है। दोनों स्थानों पर ही मुक्ति से पुनरावृत्ति स्वीकार नहीं की गयी है। योगदर्शन में विदेह तथा प्रकृतिलय के रूप में दो प्रकार के योगी माने गये है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगदर्शन में मैत्री, करुणा आदि के रूप में चित्त प्रसाद के उपायों का उल्लेख किया गया है। व्यास जी ने इनको परिकर्म नाम दिया है। पतंजलि ने इन साधनों को समाधि की सिद्धि का साधन माना है। इसी आधार पर कुछ समालोचकों ने परिकर्म के रूप में परिगणित साधनों को अष्टांग योग से पृथक् स्वीकार किया है किन्तु योगदर्शन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ये साधन अष्टांग योग के अन्तर्गत ही हैं। इसी प्रकार तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के रूप में पतंजलि ने क्रियायोग का विधान किया है। जबकि ये तीनों नियमों के अन्तर्गत भी हैं। इसी आधार पर कुछ विद्वानों की धारणा रही है कि क्रियायोग एवं अष्टांग योग का उपदेश पतंजलि ने विभिन्न अधिकारियों के लिए किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है कि अष्टांग योग का अभ्यास समान रूप में सबके लिए विहित है, इसमें अधिकारी भेद का प्रश्न नहीं है।

योगदर्शन में वर्णित विभूतियाँ भी पर्याप्त चर्चा का विषय रही हैं। कुछ विद्वानों ने इनकी आध्यात्मिक व्याख्या की है जबकि दूसरे कुछ लोग इनकी सत्यता में ही संदेह करते हैं। लेखक का विचार है कि योगदर्शन में वर्णित विभूतियों में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। साधना के द्वारा ही इनको प्राप्त किया जा सकता है। विभूतियों का विषय अनुभव की अपेक्षा रखता है, तर्क-वितर्क की नहीं। अतः योगदर्शन की अन्य बातों के समान इनको भी प्रामाणिक ही मानना चाहिए। वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञान भिक्षु दोनों ने इसी बात का समर्थन किया है। योगदर्शन में वर्णित अनेक सिद्धियों का स्वरूप अस्पष्ट एवं क्लिष्ट होने के कारण भी इनके विषय में भ्रान्ति उत्पन्न हुई है यथा पतंजलि के अनुसार शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय के प्रविभाग पर संयम करने से समस्त प्राणियों की रुतज्ञान हो जाता है किन्तु रुतज्ञान को व्यास भाष्य में भी स्पष्ट नहीं किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने तो स्पष्ट किया है कि प्राणियों की उच्चारित विभिन्न ध्वनियाँ एवं भाव विशेष ही रुत से अभिप्रेत है। मनुष्य के शब्द, अर्थ एवं अभिप्रेत भाव पर संयम करने से योगी को सामर्थ्य विशेष की प्राप्ति होती है। इसी सामर्थ्य के कारण वह अन्य सभी प्राणियों की ध्वनियों, उनके अर्थ एवं भावों को समझने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार उचित व्याख्या करके सभी सिद्धियों का रहस्य समझा जा सकता है। किसी भी अवस्था में वे अविश्वसनीय नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषदों में यौगिक सिद्धियों के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उपनिषदों का लक्ष्य सिद्धि प्राप्ति न होकर ब्रह्मप्राप्ति रहा है। अतः वहाँ पर यौगिक सिद्धियों का वर्णना सर्वथा अप्रासंगिक ही होता। यद्यपि योगदर्शन का लक्ष्य भी सिद्धियाँ प्राप्त करना नहीं है। इतना ही नहीं अपितु योगदर्शन में इन सिद्धियों को समाधि की सिद्धि में अन्तराय माना है तथापि क्योंकि योगी को योग साधना करते समय ये सिद्धियाँ स्वमेव प्राप्त हो जाती हैं अतः योगदर्शन में इनका वर्णन उचित ही था। योगमार्ग में साधक की श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए भी इन सिद्धियों का वर्णन आवश्यक था।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि योगदर्शन में प्रतिपादित तथ्यों में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। ये स्वयं अनुभूति के विषय हैं। ऐसी ही अनुभूति तथा योगमार्ग का वर्णन उपनिषदों में भी उपलब्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रानुक्रमणी

	पृ०
अपरिग्रह स्थैर्ये	४६
अभ्यास वैराग्याग्यां	१२,११६,१२०
अविद्याऽस्मिता	२२
अहिंसा प्रतिष्ठायां	४६
ईश्वर प्रणिधानं	४६,१३०
ईश्वर प्रणिधानाद्वा	१३०
ऋतम्भरा	६५,१३०
कामेन्द्रिय सिद्धि	७७
क्लेशकर्म	८४,१०६
कृतार्थं प्रति	८१
परमाणु महावात्तो	११०
परिणामताप	११८
पुरुषस्यात्यन्तिको	१०५
पुरुषार्थशून्यानां	१०१,११५
पूर्वेषामपि गुरु	८५
प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां	१४,१११
प्रसंख्याने	१०२
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां	१२६
भुवनज्ञानं	६५
भोक्तः स्वारूपावधारण	१०१
मैत्रीकरुणा	१११
ततः क्षीयते	१४
ततः परमावश्यत	१३,१४,७८,११६ १३०

	पृ०
ततः प्रत्यक्	१२२
तज्जयात्	७८
तत् परं पुरुष	७३,७६,१२०
तत्र प्रत्ययैकतानता	६६
तत्र निरतिशयं	८६
तद्भावात्	८०,१०१
तदर्थएव	८०
तदा द्रष्टुः	७४,१११
तदेवार्थमात्र	६६
तद् वशीकारात्	१२२
तपः स्वाध्याय	४४,११०,१२२
तस्मिन् देशे	६८
तस्मिन् सति	६२
तस्य परं वैराग्य	७६
तस्य प्रशान्त	७४
तस्यापि निरोधा	७६
तारकं सर्वविषयं	८५
दृष्टवदानुश्रविकः	३८,११८
दृष्टा दृशिमात्र	८०
ध्यानधारणाभ्यास	१२
ध्यानं निर्विषयं	१२
ध्यानाच्य	१०
निरोध संस्कारात्	११६
निर्विचार	१२०,७५,६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथाभिमत	१११	सतिमूले	८४
योगश्चित्तवृत्ति	११०	सत्यप्रतिष्ठायां	१२५
योगांगानुष्ठाना	१२५,१३३	सत्व पुरुषान्यथा	८२,९२
वितर्का हिंसादय	९९	सत्वशुद्धि	१२५
विवेकख्याति	१११,१२२	सन्तोषादनुतमं	५१
विशोका वा	१११	समाधि भावनार्थं	११२,११५
विषयवती वा	१११	समाधिसिद्धि	१११,१२९
विरामप्रत्यया	१२०	संयोगस्यात्यन्तिकी	१०७
वीतरागविषयं	१११	सर्वविषयपरा	६४
वृत्तमः पञ्चतय्यः	१२	सर्ववृत्तिनिरोध	७६
वृत्तिनिरोधात्	१२	स्थिरं सुख	११
शौच सन्तोषः	१११	स्वप्न निद्रा	८८,११०
शौचात् स्वाङ्ग	७७,१२२	स्वविषयासम्प्रयोग	७८
श्रुतानुमान	९५	स्वरूप प्रतिष्ठा	६
श्रद्धावीर्य	११०		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लोकानुक्रमणी

	पृ०
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा	२९
अजो नित्य	८२
अद्भिर्गात्राणि	४४
अध्यात्मयोगाधि०	१९
अध्यात्मयोगाधि०	९०
अध्यात्मयोगाधि०	९७
अनुमन्ता	३७
अनुरक्ति	३४
अन्तःशरीरे	८८
अणिमादि पदं	१७
अपाने जुह्वति	५७
अयं तु परमो धर्मः	२
अशरीरं शरीरेष्व	८६
अश्वमेध सहस्राणि	६८
अहिंसा नियमेष्वेका	३७
अहिंसा सत्यमस्तेयं	३४
अहिंसा सत्य वचनं	२८
आसनं प्राण	१३
इदं पद्मासनप्रोक्तं	५३
ऊर्ध्वं प्राणं	५८
एक एव चतुर्धा	१५
एको देव	८७
एको वशी	८६
एतद्यो वेद	९८
कर्मेन्द्रियाणि	६४
कामसिद्धि	५०
क्षान्त्या शुद्धयन्ति	४३
खेचरत्वं तथा	६०
छित्त्वैनं संशय	२३
ज्ञात्वा तं मृत्यु	१०७
ज्ञात्वा देवं	९९,१०५

	पृ०
ज्ञान निर्मलता	९०
ज्ञान प्रसादेन	६८,९४
ज्योतिर्लिङ्ग	६८
ततो रहस्युप	८९
तदा विचित्रसामर्थ्यं	५०
तदेव शुक्रतद्	८६
तद्वदात्मतत्वं	९७
तपस्विभ्योऽधिको	२४
तमक्रतुः पश्यति	४७,९६
तमात्मस्थं	९४
तस्मादसक्त	२३
ते ध्यानयोगानुगता	१८,९०
तेन त्यक्तेन	४४
ते ब्रह्मालोकेषु	१०८
त्रि णाचिकेत	१०६
त्वां दहशिवान्	१०६
दूरश्रुति	५०,६०
दुष्टाश्वयुक्त	६६
देहेन्द्रियेषु	३४
दृश्यते त्वग्रचया	९५
धर्ममेघमिमा	७३
ध्यानस्य विस्मृति	१८
ध्यानेनात्मनि	१८
ध्यारणाभि	६६
न कर्म लिप्यते	४७,१२८
न तस्य रोगो	१०७
न मात्स्ये इति	२०
न हि ज्ञानेन सदृशं	२३
नाकृत्वा प्राणिनां	३७
नष्विटतो दुश्चरिता	९६
नित्यो नित्यानां	८६
नियमो हि पादनन्दो	३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराशीर्निर्ममो ८३
निष्फलं निष्क्रियं ८७
पद्मासनं भवेदेतद् ५२
पद्मासने स्थितो ५३
पर्याप्त कामस्य १०४
प्रज्ञा प्रसादमासह्य ७८
प्राणान् प्रपीड्येह ५८
ब्रह्मचर्यमहिंसां ८८
ब्रह्मचर्येण ९२
ब्रह्मविद्या ३
भिद्यते हृदयग्रन्थि ९८,१०४
मन्त्रोयोगो १४
मतमूलप्रलेपेन ६०
महान्तं वि भु ९७
मृत्युप्रोक्तां १०६
यच्छेद्वाङ्मनसी ४७
यत्करोषि यदश्नासि ४७
यदा पश्य पश्यते १०४
यदा संहरते चायं २२
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते ९८
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य ४१
यमेवैष वृणुते ९६
यस्त्वविज्ञानवान् ९६
यस्तु विज्ञानवान् ४३
युक्तेन मनसा ९
युञ्जते मन ९
योगस्थः कुरु २१
योगिनः कर्म कुर्वत्ति २४
योगेन योगो ८
रजसो रेतसो १६
लोकेऽस्मिन् ३२
वाक्सिद्धि ५०
विषयेषु विचरतां ६३
वेदान्त विज्ञान ९४
वेदोक्तेन प्रकारेण ३८
शय्यासमस्थो १०८
श्रेयान् द्रव्यमयाद् २३
श्वो भावा मर्त्यस्य ४२
शान्तो दान्त ९२
सगुणं ध्यानं: ६९
सगुणं मूर्तिर्ध्यानम् ६९
स तु तत्पदमाप्नोति १०६
सत्यमेव जयते ९१
सत्येन लभ्यस्तेजसा ९१
सांख्ययोगौ पृथग् २४
सन्तोषमूलं हि सुखं ५१
सन्तोषामृत ५१
सन्तोषो वै स्वर्गसमः ५१
संन्यास कर्मयोगश्च २४
समाधि निर्धोत ७६
समाधि समतावस्था ७०
सम्प्राप्यैन मृषयो ९२
सर्वकारणमक ६७
सर्वं ब्रह्मेति वै ३४
सर्वं विघ्नहरो ८९
सर्वे वेदा यत्पद ८७
सविषय मनो १७
स्पर्शान् कृत्वा ५७
स्वदेहामरणि ९०
स्वाध्यायाद्योग ८८
स्वाध्याय शौच २८
सिद्धयसिद्धयो २१
हिरण्य गर्भो १०
हिरण्मयेन २
हृदा मनीषा ९५
हृदि ह्येष ८२

132299

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY	
Signature	
Access on	26.11.5
Class on	7-12-05
Cat on	26.11.5
Tag etc	
Filing	
E.A.R.	13.12.05
Any others	
Checked	

Recommended By...... डॉ. त्रिलोक चन्द

Entered in Database

Signature with Date

26.11.5

ADD Works in Catalogue Cards

By.........................

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० रघुवीर (लब्ध-सुवर्ण-पदक)

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक डा० रघुवीर वेदालंकार १९७३ से रामजस कालेज, दिल्ली के संस्कृत विभाग में कार्यरत हैं। आप गुरुकुल कांगड़ी के उन स्वाध्यायशील स्नातकों में से हैं जिनका व्रत सतत सरस्वती साधना रहा है। वेद, व्याकरण तथा दर्शन शास्त्र में प्रारम्भ से ही आपकी रुचि रही है। यही कारण है कि एम० ए० तथा पी-एच० डी० के साथ-साथ वेदाचार्य, दर्शनाचार्य तथा व्याकरणाचार्य परीक्षायें भी आपने सम्मान पूर्वक उत्तीर्ण की हैं। तीनों ही क्षेत्रों में आपने ग्रंथों का लेखन एवं सम्पादन किया है। आपका 'काशिका का समालोचनात्मक अध्ययन' नामक शोध ग्रंथ तथा काशिका के प्रथम पाद की हिन्दी व्याख्या उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत हैं। इसी प्रकार विस्तृत भूमिका सहित 'वेदों का समीक्षात्मक अध्ययन' तथा 'वैदिक दर्शन' नामक पुस्तकों का सम्पादन भी आ। ने किया है। दर्शन के क्षेत्र में कठोपनिषद् व्याख्या' तथा 'उपनिषदों में योग-विद्या' दोनों ग्रंथ अभी प्रकाश में आए हैं। इनके अतिरिक्त कई शोध लेख भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। 'नैतिक शिक्षा', 'व्यवहार भानु व्याख्या' आदि अन्य लघु ग्रंथ भी प्रकाशित हैं। व्याकरण की प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों विधाओं पर आपका अधिकार है। आजकल आप काशिका की विस्तृत हिन्दी व्याख्या लिखने में संलग्न हैं जिसके दो अध्याय प्रकाशनार्थ तैयार हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद्वाक्यमहाकोशः

UPANISHAD VAKYA-MAHAKOSHA

(or a Concordance to Upanishads)

—by Gajanan Sadhale Shastri.

It is now 100 years since Col. Jacob published his Upanisheds Vakya-Kosha or a Concordance to 45 in 1891. There is no Sanskrit Scholar in the world who has not utilised this valuable lifeboat while navigating on the high seas of Sanskrit Literature during the century. Now that this reference book is gone out of print there is a crying demand for a reprint of it from Sanskrit Scholars all over the world, We are, therefore, glad to find in the volume before us a simillar coneordance to five times the numper of Upanishads uscd by Col. Jacob for his work. The present elaborate Concordance by Shastri Sadhale is projected in 2 Vols. P. K. Gode

2 Vol. Set (1990) Rs. 750.00

अमरकोशः

AMARAKOŚA

(With the Commentary of Maheśvara)

VAMANACHARYA JHALAKIKAR

(1990) Rs. 250 00

Ph. 7217841

K. C. PUBLISHERS

448, Ring Road, Azad Pur Flyover, Delhi-33

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar